कैम्बलपुर जेलवासी

पं० जयचन्द्र विद्यालंकार

को समर्पित

लिखने की ओर

'बाल-सखा' और 'बालक' सदृश पत्रों की कृपा से आज प्राइमरी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे भी कुछ न कुछ लिखते हैं और उनका लिखा भला लगता है, किन्तु मैं अपना कालेज का अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद तक भी कभी एक भी अक्षर लिखकर न छपवा सका था। लिखने वाले मेरी दृष्टि में असाधारण आदमी ही नहीं, उसकी अपेक्षा भी विशेष बहुत विशेष, कुछ कुछ दिव्य-लोक के देवता थे। अपने आस-पास रहने वालों को भी लिखते और छपाते देखता, किन्तु मैं भी कभी कुछ छपने-छपाने लायक लिखूंगा—इसका मुझे तनिक ध्यान न था।

उन दिनों 'लाहौर' से एक समाचार पत्र निकलता था, उर्दू में। नाम था 'उपदेशक'। सम्पादक के नाम की जगह किन्हीं मुन्शी राम का नाम छपता था, किन्तु घर बैठ कर उसका सम्पादन करते थे काकोरी-केस के प्रसिद्ध बन्दी सेठ दामोदर स्वरूप। क्या यह कहने की आवश्यकता है कि पत्र राष्ट्रीय था? किन्तु, उन्हीं दिनों अकाली-आन्दोलन जोरों पर था, और वह 'राष्ट्रीय आन्दोलन' समझा जाता था। 'उपदेशक' महन्तों का पत्र था और इसलिये स्वभावतः अकाली आन्दोलन का विरोधी। बस इसके सिवा वह सोलह आने राष्ट्रीय; लेकिन 'उपदेशक' को कोई भी पसन्द न करता था। पत्र के सम्बन्ध में राय क़ायम करने के लिये उसे पढ़ना चाहिये न? 'उपदेशक' को कोई पढ़ता ही न था। सेठ दामोदर स्वरूप के लिये तो वह गुम-नामी के दिन काटने का एक सहारा मात्र था। एक दिन उन्होंने कहा—

"आप कुछ लिखते क्यों नहीं?"

मैंने कहा—"मैं ! मैंने तो कभी कुछ नहीं लिखा।"

"यह कोई कारण नहीं है कि आगे भी न लिखें।"

उनके बारे में मैं रौलट-कमेटीकी रिपोर्ट में पढ़ चुका था और राष्ट्रीय-भावना के किसी भी लड़के का जो आदर-भाव एक साहसी क्रान्तिकारी के प्रति हो सकता है, कुछ कुछ वैसा ही भाव मेरे मन में सेठ जी के प्रति था। फिर सेठ जी मुझे 'लेखक' बनाना चाहते थे। अपनी भलाई की बात भी न मानने वालों की कमी नहीं; किन्तु मुझ पर सेठ जी को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ा। जब सम्पादक स्वयं कुछ लिखने की प्रेरणा करे तो छपाई की समस्या पहले ही हल समझो। मैंने एक छोटी सी चिट्ठी लिखी—सम्पादक के नाम। दूसरे दिन शाम को देखा कि 'उपदेशक' में एक नोट है, जिसका शीर्षक है—'हमारे भी हैं मेहरबान् कैसे कैसे !' और उस 'नोट' में मेरी सारी चिट्ठी दर्ज है। पहली बार, हाँ, पहली बार मेरा नाम अख़बार में छपा था। साधारण प्रसन्नता की क्या बात, रोमाञ्च हो उठा। ऐसा लगता था कि जैसे ज़मीन से दो फुट ऊंचा उठ गया हूँ। शाम को लाहौर की सड़क पर जा रहा था और हाथ में था 'उपदेशक' का वह अंक जिसमें मेरी चिट्ठी छपी थी। चिट्ठी तो ख़ैर गौण चीज़ थी, असल बात यह थी कि उसमें मेरा नाम छपा था। मैं बिजली के एक खम्भे के नीचे खड़ा होकर 'हमारे भी है मेहरबान् कैसे कैसे !' पढ़ता। अगले खम्भे तक पहुँचते पहुंचते मन में सन्देह हो जाता कि मेरा नाम उसमें है वा नहीं ! जो नाम है वह मेरा ही है, किसी अन्य का तो नहीं ! इस प्रकार लगभग हर खम्भे के नीचे खड़े हो होकर 'उपदेशक' के उस दूसरे पृष्ठ को देखा। और, यदि कोई परिचित मित्र मिल गया तो चार कदम उसके साथ जाकर भी उसे 'हमारे भी हैं मेहरबान् कैसे कैसे !' दिखाया। पिछले बीस वर्षों में समय समय पर काफ़ी पन्ने स्याह किये ही हैं, किन्तु वह पहला लेख, नाम का वह पहली बार प्रकाशन, नाम को वह पहली बार छापे के अक्षरों में देखना कुछ ऐसा उन्मादक था कि आज भी उसकी खुमारी का अनुभव कर सकता हूँ। उस चिट्ठी

के प्रकाशित होने से मेरी हिम्मत बढ़ गई। कारण, बिना एक भी शब्द की काट-छाँट के वह चिट्ठी छपी थी। किसी महान् राजनीतिज्ञ ने स्वीकार किया है कि उसने सम्पादक को एक चिट्ठी लिखी। सम्पादक ने चिट्ठी छाप तो दी, किन्तु उसके नीचे अपनी ओर से लिख दिया—"कूड़ा-करकट" [सं०] बिचारा पच्चीस वर्ष तक फिर कुछ भी न लिख सका। न जाने अनेक सम्पादक कितने लेखकों की हत्या कर डालते हैं! किन्तु, हज़ारों को लेखक बनाने वाले भी सम्पादक ही हैं। मुझे सौभाग्य से ऐसे ही 'सम्पादक' से पाला पड़ा था। सेठ जी की प्रेरणा से उत्साहित होकर मैंने अगले दो दिनों में दो बड़े बड़े लेख लिखे—चार-चार कालम के। दोनों उपदेशक में छपे। विषय था—गोपीमोहन साहा की फाँसी। मैंने कहा था—हमारे तरुण जो यह मार-काट का मार्ग ग्रहण कर लेते हैं उसकी जिम्मेदारी हम अहिंसा-वादियों पर है। हम करते-धरते कुछ नहीं। केवल अहिंसा अहिंसा चिल्लाते रहते हैं... ..आदि। महात्मा नन्दगोपाल का नाम पुराने राजनीतिक कार्य्यकर्ताओं में आदणीरय है। वह प्रयाग से निकलने वाले 'स्वराज्य' के सम्पादक थे और काला-पानी हो आये थे। प्रातःकाल उनके साथ सैर को जा रहा था। एक बड़ी ही भव्य-मूर्ति ने मेरा परिचय पाकर पूछा—

"उपदेशक' में इधर जो दो लेख छपे हैं, आपके ही हैं?"

"जी हाँ।"

"खूब लिखा कीजिये। ऐसे ऐसे लेख खूब लिखा कीजिये।"

वह चले गये तो मैंने महात्मा नन्दगोपाल से पूछा—"आप कौन थे?" महात्मा जी ने बताया—"आप सेंसर-डिपार्टमेंट के प्रधान-अधिकारी थे।" डरना बहुत बुरी बात है, किन्तु असत्य-भाषण उससे भी बुरी! महात्मा जी की इस सूचना से मैं सचमुच कुछ सहम गया और कई दिनों तक इस बात की प्रतीक्षा ही नहीं चिन्ता भी करता रहा कि अब सरकार क्या करेगी? सोचता था कि सरकार को कुछ करना ही हो तो इतनी जल्दी नहीं करनी चाहिये।

अभी तो मैं 'लेखक' बनने ही लगा हूँ—मुझे 'लेखक' बन तो लेने देना चाहिये। कुछ दिन प्रतीक्षा करते रहने के बाद जब कहीं कुछ न हुआ तो चिन्ता कम हुई, लेकिन फिर 'उपदेशक' में और कुछ नहीं ही लिखा जा सका। कारण स्पष्ट है।

× × ×

सन् २६ में इलैक्शन लड़ा जा रहा था। इन्डिपेन्डैन्ड कांग्रेस पार्टी और स्वराज़्य पार्टी के बीच। ला० लाजपतराय जैसे तपे हुये देश-नेता भी स्वराज्य पार्टी के विरुद्ध इन्डिपेन्डैन्ड-पार्टी में शामिल थे। बड़ा घमासान का इलैक्शन था। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक स्वराज्य पार्टी के पक्ष में दौरा कर रहे थे—सारे उत्तर-भारत का। उनकी आँख ख़राब होने से उन्हें एक साथी-सेवक की आवश्यकता थी। मैंने घूमने फिरने तथा नेताओं के निकट-सम्पर्क में आने का अवसर देखा, साथ हो लिया। एक बार स्वामी जी बनारस में मुझे छोड़कर अकेले चले गये। अकेले से मेरा मतलब है—बिना मेरे। अन्यथा अकेले तो वह कहीं आ जा ही न सकते थे। तीन चार दिन पर लौटे। आते ही बोले—"ख़ाली बैठा रहा कुछ लिखता ही।" मैंने कहा—"स्वामी जी! लिखा तो है।" सुनाने की आज्ञा हुई। सुनाया। सुनकर बोले—"लेख में हृदय है।" मैंने कहा—"स्वामी जी! छपने योग्य हो तो कहीं छपवा दें।" उत्तर मिला—"नहीं, यह मदद मैं नहीं करूँगा। तुम्हें यह अपना काम स्वयं करना होगा।" बनारस से जब मैं प्रयाग आया तो एक दिन अपना वह लेख लिये 'सरस्वती' सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल के पास गया। उन्होंने लेख पढ़ा। तारीफ़ की। लेकिन साथ ही कहा, "यह 'सरस्वती' के लिये ठीक नहीं है, किसी साप्ताहिक पत्र में छपवाइये।" शुक्ल जी ने लेख की काफी प्रसंशा की, किन्तु वह सब मुझे बेकार लगी, क्योंकि मेरे लिये यह सूचना कि वह 'सरस्वती' में नहीं छप सकता काफ़ी थी। पिछले कई वर्षों में 'सरस्वती' में मेरे काफी लेख छपे हैं। शुक्ल जी ने ही बड़े सौहार्द के साथ छापे हैं, किन्तु शुक्ल जी क्षमा करें, वह जो उन्होंने मेरा वह लेख नहीं छापा उसके लिये मैं उन्हें कभी

क्षमा नहीं कर सकता। वह मेरा पहला हिन्दी-लेख था !!!

कुछ समय बाद मैंने एक दिन वह लेख सम्पादक 'सैनिक' आगरा के पते पर डाल दिया। उन दिनों मैं स्वामी सत्यदेव जी से पृथक अकेला घूमता था। फरूखाबाद से आगरे पहुँचा। श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल से किसी प्रकार का पूर्व परिचय न था। तो भी मैंने अपने परिचितों को पत्र-व्यवहार के लिये उनका ही पता लिख दिया था। चाहिये था कि पालीवाल जी को भी एक पत्र लिख देता कि मेरे कुछ पत्र उनकी मार्फत आयेंगे। लिखा तो सही, किन्तु बहुत बाद में। घूमता-घूमता आगरे पहुँचा। देखा 'सैनिक' कार्यालय में 'सैनिक' सम्पादक पालीवाल जी चार दोस्तों के साथ चारपाई पर बैठे ताश खेल रहे हैं। अपना परिचय दिया और पूछा—मेरे नाम का कोई पत्र तो नहीं है ? पालीवाल जी ने बताया—"आपके पत्र आये हैं। किन्तु जब आने आरम्भ हुए तो हमने सोचा कि न जाने किस अपरिचित के पत्र हमारी मार्फत चले आ रहे हैं ! अपने साथ कोई आपत्ति न ला रहे हों, सोच पहले तो पत्रोंको पुलिस के हवाले कर देना चाहा। बाद में सोचा, अपना ही कोई आदमी न फँस जाये और किसी दूसरे को आपत्ति में डालने की अपेक्षा अपने ही आपत्ति में पड़ना अच्छा है। इसीलिये पत्रों को रहने दिया।" थोड़ी ही देर में उनके इशारा करने पर एक भाई ने आठ-दस पत्र ला दिये। ताश बाकायदा चालू रही। पालिवालजी ही एक ऐसे सम्पादक हैं जो शायद डण्डा और कलम समान रूप से चला सकते हैं, खरे तपस्वी लेकिन ऐसे नहीं कि रोनी सूरत लिये रहें। हंसी के फव्वारों के बीच ताश होती रही। मुझे अवसर मिला तो मैंने पूछा—"एक लेख भी मैंने 'सैनिक' में प्रकाशनार्थ भेजा था। पता नहीं छपा या नहीं ?" और बताया—"उसका शीर्षक था 'अंग्रेज़ी चरित्रकी एक झलक।" पालीवाल जी के मुँह पर प्रसन्नता की रेखा खिच गई। बोले—"वह लेख आपका था ?" मैंने कहा—"जी।" बोले—"उस पर किसी का नाम-धाम पता-ठिकाना कुछ न था। हमें पढ़ने पर बहुत अच्छा लगा। हमने उसे "लेखक—एक निष्कंटक" करके छाप दिया।" अब

लेख के अच्छे होने में क्या सन्देह ! एक राजनीति-परक लेख को, जिस पर लेखक का नाम तक न था, पालीवाल जी ने अपनी जिम्मेदारी पर छापा था। इस एक बात ने मेरी बहुत हिम्मत बढ़ाई। मेरे पास उस लेख की मूल प्रति न थी। उसे छपे भी कुछ दिन हो गये थे। मैंने उसे 'सैनिक' की पिछली 'फाइल' में से फिर अपनी कापी में नकल किया। उस लेख में विशेष कुछ न था। फस्ट-क्लास में मेरी एक अंग्रेज़ से झड़प हो गई थी। राष्ट्रीयता की पुट के साथ उस झड़प का वर्णन-मात्र था। तब से मैंने समझा है कि पाठक को जो सबसे अधिक रुचता है वह जीवन-साहित्य है। यदि आप पाठक का समय लेना चाहते हैं तो पाठक भी आपसे जानना चाहता है कि आपने जीवन में क्या भला-बुरा अनुभव किया ? पाठक चाहता है कि वह अपने जीवन के माप-दण्ड के गज से आपके जीवन को भी कुछ मापे। इसी परस्पर की माप-तोल में मानव-जीवन का सौहार्द छिपा है और यह सौहार्द ही है जो किसी भी चीज़ को रस प्रदान करता है।

सन् २६ से २८ तक मैं इसी प्रकार घूमता रहा हूँ। एक बार पटना के 'देश' के आफिस में गया था। उसके सम्पादक बाबू मथुराप्रसाद ने मुझे दो रुपये दिये थे और कहा था कि 'लंका' जाने पर मैं 'देश' को न भूलूँ। मैंने यात्रा में ही एक बार एक लेख लिखा—मेरा लोटा। वह 'देश' में छपा था। कुछ नहीं दो तीन दिन अपने लोटे को ही ध्यान-बिंदु मानकर जो जो कुछ उसके बारे में सूझता रहा उसे नोट करता रहा। तीन चार दिन में 'देश' के तीन चार लम्बे कालम भरे जा सके। इस संग्रह में जो 'यह विज्ञापन !' लेख है, वह कुछ कुछ "मेरे लोटे" का ही भाई-बन्द है। एक दिन हाथ का समाचार-पत्र समाप्त हो गया। कोई और दूसरा पत्र पास न होने से मैं उसमें छपे विज्ञापनों पर ही ध्यान देने लगा। थोड़ी ही देर में वे एक लेख की सामग्री बन गये।

आपने आशुकवि श्री० जगमोहन अवस्थी जी से उसी समय

दियेगये किसी भी विषय पर कविता सुनी होगी। सामान्य आदमी उतनी शीघ्रता से न कर सके और छन्दो-बद्ध रचना न भी सुना सके तो भी यदि वह किसी एक विषय पर कुछ देर सोचेगा तो उसे उस विषय पर नाना बातें सूझ ही जायेंगी और अभ्यास से यह सामर्थ्य बहुत बढ़ जाती है।

सिंहल पहुँचने तक भी मैं निस्संकोच कुछ न लिख सकता था। बात यह थी कि मासिक-पत्रों में तब तक कुछ भी नहीं छपा था। राहुल जी की देख-रेख में मैंने "भगवान् बुद्ध के अन्तिम दिन" लिख कर 'विशाल-भारत' को भेजा। श्री० बनारसी दास चतुर्वेदी ने प्रशंसा का पत्र लिखा और आग्रह किया—इसी प्रकार 'बुद्ध' का एक पूरा जीवन-चरित्र लिख देने का। राहुल जी ने भी कहा। कहने सुनने से मैं लिखने लगा। लगभग एक फर्मे का मैटर लिखा गया किन्तु न मुझे ही अच्छा लगा न राहुल जी को। लिखा लिखाया फाड़ कर फेंक दिया। ऐसे सिद्धहस्त लेखकों की कमी नहीं जो बढ़ई के मेज-कुर्सी तैय्यार कर देने की तरह आर्डर पर साहित्यिक-माल भी तैय्यार कर दे सकते हैं, लेकिन यथार्थ बात तो यही है कि जो चीज़ जितनी ही अन्तः प्रेरणा से तैय्यार होती है, वह कुछ उतनी ही बढ़िया बनती है।

सन् १९३६ तक भी मेरा संकोच बराबर बना था—यद्यपि 'देश' 'विशाल-भारत' आदि में कई लेख लिखकर छपा चुका था। कलम रुकती ही थी। एक दिन किसी अंग्रेज़ लेखक की रचना में पढ़ा—"तुम लिखते क्यों नहीं? क्या समझते हो कि जो लोग लिखते हैं वह तुम से कुछ विशेष अधिक जानते हैं?" बात कुछ सच्ची सी लगी। बिना जानकारी के तो कोई कुछ लिख ही नहीं सकता, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि जिसे जानकारी हो वह लिख भी अवश्य सके। जानकारी एक चीज़ है, और लिख सकना दूसरी। कुछ अभ्यास के बाद आदमी को अपने आपको थोड़ी देर के लिये एक दूसरे ही लोक में ले जाने की कला सिद्ध हो जाती है। वह अध-खुली आँखों से दूर तक देखना सीख जाता है और हलके हाथों से कागज पर कुछ लकीरें खैंचना। लोग

यदि उन लकीरों को 'लेख' कह कर छापने लगते हैं तो उसमें विचारे 'लेखक' का कुछ अपराध नहीं होता।

'जो न भूल सका' में जितने 'लेख' एकत्र हो गये हैं, ये न विषय वार हैं, न अपने लेखन-समयानुसार ही। इस बात का भी दावा नहीं कि उनमें व्यक्त विचारों में कहीं परस्पर-विरोध नहीं है। इनके पक्ष में यदि कोई बात कही जा सकती है तो वह इतनी ही कि ये सभी 'लेख' अन्दर की आग को कागज पर रखने के अधिक से अधिक इमानदाराना प्रयत्न हैं।

इनमें एक लेख भी तो ऐसा नहीं है जो 'कला कला के लिये' सिद्धान्त का अनुयायी कहा जा सके। हम भोजन पेट भरने के लिये करते हैं, किन्तु उसके भी थाली में परोसने का एक सलीका रहता है। ढङ्ग से परसा गया भोजन कुछ अधिक खाया जा सकता है और अधिक स्वास्थ्य-कर भी होता है। 'कला' नाम की वस्तु यदि किसी लेख को जाने अनजाने छू गई है, तो उसका स्थान बस आटे में नमक के बराबर ही है।

एक बार मैंने प्रसिद्ध पत्रकार सन्त निहाल सिंह जी से पूछा कि आपकी कलम में यह कौन सा जादू है कि जिसके बल पर आपने इतना यश, धन और पुण्य एक साथ अर्जन किया है? बोले—"दो बातें हैं। पहली तो यह कि मैं कभी किसी को उपदेश नहीं देता। मुझे यदि किसी एक आततायी के विरुद्ध जिसने किसी पर अत्याचार किया हो अपने पाठक के मन में घृणा पैदा करनी हो तो मैं उसके अत्याचार का वर्णन ही ऐसे ढंग से करूँगा कि घटना समाप्त होते होते पाठक के मन में उबाल आ जाय। घटना का वर्णन समाप्त करने के बाद मैं यह नहीं लिखने बैठूँगा कि देखो वह कितना अत्याचारी था, उसने क्या किया आदि। यह तो पाठक की बुद्धि का अपमान है। लेख ऐसा होना चाहिये कि एक शब्द कह दिया और फिर उससे पाठक के मन में अनन्त लहरें उठती रहें। और, दूसरी बात यह है कि मुझे कुछ भी लिखना होता है तो पहले मैं अपने हृदय की आग को कलम-बन्द कर

लेता हूँ। यदि दूसरोंका लिखा हुआपढ़कर लिखूं तब तो मैं वही लिखूंगा जो दूसरों ने लिखा है। अपनी चीज़ लिख चुकने के बाद मैं दूसरों का लिखा पढ़ता हूँ और फिर उसमें सुधार-परिवर्तन करता हूँ।"

पिछले हरिद्वार-सम्मेलन के बाद मैं लगभग दो महीने सन्त जी के बहुत समीप देहरादून में रहा। रोज दो चार घन्टे उनके साथ रहना होता था। छोटी छोटी अनेक बातें सीखने को मिली। उस दिन मेरे एक मित्र अपने बारे में कह रहे थे—"अमुक पुस्तक के कुछ फर्मे लिखे पड़े थे। अमुक प्रकाशकने छापने चाहे। मैंने प्रेस में दे दिये। अब फर्मे छप रहे हैं। साथ साथ और भी लिख लिख कर देता जाता हूं। छपते जाते हैं।" मैंने कहा--"आप इसे अपनी तारीफ़ समझते हैं। मैं इसे हिन्दी का दुर्भाग्य समझता हूँ।" किसी ग्रन्थ का अनुवाद मात्र हो, तो उसे भी दोहराने की आवश्यकता रहती है, किन्तु हमारी हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों को भी इसी प्रकार एक-दो-तीन करने में अभिमान समझा जाता है। मैंने सन्त जी को एक एक 'कौमा', 'फुलस्टाप' पर जान देते देखा है। एक पाली ग्रन्थ का छपा हुआ अंग्रेज़ी अनुवाद था। उसकी भाषा को अनुवादक के अतिरिक्त दो और सज्जन देख चुके थे, जिनमें एक अंग्रेज महिला थीं। मैंने वह पुस्तक सन्त जी को दी। अगले ही दिन देखा कि पुस्तक की ऐसी दुर्गत बनी है, मानो वह प्रूफ-कापी हो। देखकर हैरान रह गया। सन्त जी ने एक एक शब्द पर इसी प्रकार परिश्रम से अधिकार प्राप्त किया है। हम उन्हें अंग्रेजी के ही लेखक के तौर पर जानते हैं; किन्तु सन्त जी उन दिनों पटियाला के सरदार कान्ह सिंह का एकबड़ा जीवन चरित्र लिखा रहे थे —अपनी मातृ-भाषा पंजाबी में।

एक बार मैंने उनके एक लेख का हिन्दी-अनुवाद किया। मैं समझता था कि सन्त जी अंग्रेजी-शब्दों की ही पकड़ रखते हैं, किन्तु जब मैंने उन्हें अपना अनुवाद सुनाया तो मुझे कई जगह फिर से कलम चलानी पड़ी।

उर्दू वालों में भाषा को माँजने की परम्परा है; हिन्दी वालों में

नहीं ही है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु अनेक साथियों को यह आदत लगनी चाहिये। 'जो न भूल सका' के अधिकांश लेख छपने से पूर्व जहाँ जहाँ वे लिखे गये वहाँ वहाँ के मित्रों ने सुने हैं।

पुस्तक की छपाई मेरी गैर-हाजिरी में हुई। इससे पहले मैंने दूसरों की पुस्तकों के प्रूफ देखे हैं, लेकिन अपनी पुस्तक का अन्तिम प्रिंट-आर्डर स्वयं ही दिया है। इस बार यह न हो सका। भाई श्रीकृष्णदास एम० ए० तथा उनके दोस्तों ने प्रूफ देख देने की कृपा की। मैं सब का कृतज्ञ हूँ। प्रूफ देखना और झाड़ू लगाना एक जैसा काम है। जितनी बार झाड़ू लगाया जाय, हरबार कुछ न कुछ कूड़ा करकट निकल ही आता है। सुनता हूं एक एक फर्मा कई कई हाथों में से गुज़रा है। लेकिन तब भी किसी किसी लेख में कुछ न कुछ छूट ही गया। जो छूट गया, या क्या का क्या हो गया उसका दोषी मैं ही हूँ। एक जगह जहाँ मैं कहना चाहता था कि 'कानपुर में मुझे किसी प्रकार की असुविधा न हुई' एक 'न' अक्षर छूट जाने से 'कानपुर में मुझे किसी प्रकार की असुविधा हुई' हो गया। कानपुर के मेरे मेज़बान ही पढ़ेंगे तो क्या कहेंगे? डा० ढालके का नाम डा० ठालके हो गया। किन्तु उसकी बहुत चिन्ता नहीं। हम लोगों के लिये तो जैसा ढालके वैसा ठालके। किन्तु स्वयं डा० ढालके भी स्वर्गीय हो चुके हैं और मैं नहीं समझता कि हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार स्वर्ग में भी है? यदि वहाँ भी हुआ तब तो अवश्य डा० ढालके की शिकायत आने का डर है। कुछ दूसरी अशुद्धियाँ हैं, जिन्हें विज्ञ पाठक स्वयं समझ और सुधार लेंगे।

श्री गयाप्रसाद तिवारी बी० काम० ने पुस्तक को अपने नारायण प्रेस में छाप कर प्रकाशित किया है। उनका नवस्थापित 'हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स' अपने उद्देश्य में सफल हो।

श्री सत्यनारायण कुटीर,
सम्मेलन, प्रयाग

आनन्द कौसल्यायन

विषय सूची

आतिथ्य

जैसे जीवन-पथ पर, वैसे ही साधारण सड़क पर, आदमी के लिए अकेले चलना कठिन है। कोई ठहर कर किसी पीछे आनेवाले का साथी हो लेता है, कोई चार क़दम तेज़ चलकर आगे जानेवाले का।

महाकवि ने गाया है—

"यदि तोर डाक शुने केउ न आसे
तबे एकला चल रे! एकला चल रे!"

अर्थात् यदि तेरी आवाज़ सुनकर कोई साथ नहीं आता तो अकेला चल! अकेला चल। लेकिन मुझे उस दिन किसी को आवाज़ देने की भी फ़ुर्सत नहीं थी; किसी साथी की आशामयी प्रतीक्षा में मैं ज़रा दम लेने के बहाने भी न ठहर सकता था। कारण? उस दिन मेरे सिर पर भूत सवार था। मैंने निश्चय किया था, अपनी चलने [redacted] की परीक्षा करने का। चलना तो उन दिनों मेरा रोज़ का काम था; लेकिन मैं जानना चाहता था कि एक दिन में मैं ज़्यादा से ज़्यादा कितना चल सकता हूँ।

कहना न होगा कि अपना सामान मैं ख़ुद उठाये था। कन्धे पर एक हलका कम्बल और हाथ में टीन की एक छोटी बाल्टी। इनके अलावा कोई गज़ डेढ़ गज़ का खद्दर का एक टुकड़ा, जो धूप लगने पर छतरी का काम देता, नहाने के समय धोती का, भिक्षा माँग कर खाने के समय पात्र का और सोने के समय बिस्तरे का। हाँ, कोई चीज़ बाँध कर ले चलने के समय सूट-केस का भी काम वही देता था।

रास्ते चलते प्यास लगती। कुछ देर ठहर कर पानी पीना चाहिए, साधारण नियम है। मैं इस नियम का पालन कहीं नहीं करता। पानी मिलते ही पी लेता और चल देता। एक बार सन् १९२२ के कांग्रेस आन्दोलन के दिनों में मैं और मेरा एक साथी तीन घंटे में अठारह

मील दौड़ कर गिरते-पड़ते कांग्रेस की एक मीटिङ्ग में इस उद्देश्य से पहुँचे थे कि कहीं हमारी अनुपस्थिति के कारण 'सिविल-नाफ़रमानी' का प्रस्ताव पास होने से रह न जाय। उस दिन की याद थी। मैं भागा जा रहा था। अफ़सोस यही था कि दिन सर्दियों के थे, जो सभी धातुओं की तरह सुकड़ कर काफ़ी छोटे हो गये थे। गर्मी में तो चलने की बहार रात में रहती है; और कहीं चाँदनी रात हुई तो ऐसा मज़ा आता है, जैसा चन्द्रिका की छटा में ताजमहल की परिक्रमा करने में। लेकिन सर्दी में सूरज का डूबना और यात्री की शामत आना दोनों बातें एक साथ होती हैं और ख़ासकर ऐसे यात्री की जिसके पास ओढ़ने को पर्य्याप्त कपड़े न हों, रात काटने का कहीं टिकाना न हो, भरोसा हो तो सिर्फ़ 'ईश्वर' का।

रास्ता चलते लोगों से मैं पूछता—"क्यों भाई! आगे कोई ठहरने लायक गाँव है?" लोग किसी गाँव का नाम बतलाते। मैं वहाँ न ठहरता। यही लालच था कि दो-चार मील और हो जायँ। आगे एक क़स्बे का पता लगा। सोचा, आज वहाँ तक तो ज़रूर पहुँचेंगे। रात हो चली थी। चलने की गर्मी में सर्दी लग तो नहीं रही थी, लेकिन पड़नी शुरू हो गई थी। और उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। तब भी उस क़सबे तक पहुँचने की धुन थी। इसके सिवा दूसरा चारा भी क्या था? कोई दूसरी बस्ती भी आस-पास हो? वही एक बस्ती थी—वह भी पता लगा कि मुसलमानों की। एक पहाड़-सा टूट पड़ा। क्यों न टूट पड़ता, जब मुझे बचपन से यह शिक्षा मिली थी कि मुसलमानों का न केवल धर्म हमसे भिन्न है, बल्कि समाज भी। पहले तो मैं किसी मुसलमान का दरवाज़ा खटखटाने का साहस ही कैसे करता, और यदि साहस करता तो क्या आतिथ्य पाने की आशा रख सकता था?

किसी ने बताया कि उस क़स्बे में एक हाई स्कूल है, उसके हेड मास्टर हैं एक जैनी। बस क्या था! जान में जान आई। धर्मशालायें बनवाने में किनका अव्वल नम्बर है? जैनियों का। मन्दिरों के बनवाने में कौन पहली पंक्ति में खड़े होंगे? जैनी। इस तरह की बातें रास्ते भर

मन में आती रहीं और मैंने सोचा कि यदि मिलेगा तो गरमागरम पानी से पैर धोऊँगा। हो सकता है, गरम तेल भी मलने को मिल जाय। और कहीं गरम दूध मिल गया तो क्या कहना? ३५-३६ मील का सफ़र कर चुकने पर, थक कर चूर हो जाने पर, एक बार बैठकर फिर जल्दी उठने की आशा मन में न रहने पर ऐसी इच्छा क्या अनधिकार चेष्टा समझी जायगी? जो हो। उस रात में ऐसा ही हिसाब लगाता हुआ, उन हेडमास्टर साहब के बँगले पर जा पहुँचा। बँगला क़स्बे से बाहर था—ऐसे ही जैसे किसी भी शहर में सिविल-लाइन के बँगले। अँधेरे में दो चार घर आस-पास दिखाई दिये। हेड मास्टर साहब के बङ्गले पर पहुँचकर मैंने वैसे ही दस्तक दी, जैसे कोई अपने घर के दरवाज़े पर देता है। 'हेड मास्टर साहब, हेड मास्टर साहब' कह कर पुकारा। दरवाज़ा खुला। अन्दर से एक सज्जन लालटेन लिये हुए निकले। मुझे उस समय अपनी पड़ी हुई थी। मैं उनकी शक्ल-सूरत, क़द-क़ामत को क्या निरखता? वे ही मेरी शक्ल को अच्छी तरह पहचानने की कोशिश करते हुए बोले—"क्या है?"

"मैं एक विद्यार्थी हूँ, ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों को देखने के विचार से पैदल यात्रा कर रहा हूँ। आज की रात, आज्ञा हो तो, आपके यहाँ काटनी चाहता हूँ।"

आशा के ठीक विपरीत जवाब मिला—"हर्गिज़ नहीं।"

मेरी सब अक़्ल गुम हो गई। अपने को सँभालते हुए—ठीक वैसे ही जैसे कोई गिरी हुई पगड़ी सँभाले, मैंने निवेदन किया—"यहाँ मेरा कोई परिचित नहीं। रात अँधेरी है। पहली बार इस बस्ती में आया हूँ। कहाँ जाऊँ?"

"यहाँ आस-पास कई चोरियाँ हो गई हैं। हम अपने घर किसी को नहीं ठहरने देते।"

"अपने बरामदे में पड़े रहने की आज्ञा दे दीजिए। सुबह होते ही मैं अपना रास्ता लूँगा।"

"न, ऐसा हो नहीं सकता। बस्ती में एक धर्मशाला है। वहाँ

चले जाओ।"

"मैं आज बहुत चला हूँ। थक कर चूर हो रहा हूँ। एक क़दम भी और चलने का सामर्थ्य नहीं है। फिर इस अँधेरे में कैसे कहाँ धर्मशाला को खोजता फिरूँ?"

"जा रे, इसे धर्मशाला का रास्ता दिखा आ।" कह कर हेड मास्टर साहब ने एक आदमी को मेरे साथ कर दिया।

हमें लगी हो कड़ी भूख और कोई खिलाना चाहे रोटी का केवल एक टुकड़ा, तो हम धन्यवादपूर्वक उस एक टुकड़े को भी अस्वीकार कर देंगे। कुछ ऐसी ही अवस्था उस समय मेरी हुई। थकावट के दुःख से भी अधिक दर्द था मर्माहत अभिमान का। दो-चार क़दम चलकर मैंने उस आदमी से किञ्चित् रोष भरे लहजे में कहा—

"जाओ, तुम लौट जाओ: जो बीतेगी, सहेंगे। धर्मशाला का रास्ता स्वयं ढूंढ़ लेंगे।"

आदमी शायद यही चाहता भी था; वह लौट गया और मैं अपनी समझ में धर्मशाला की ओर चल दिया, बिना यह जाने कि धर्मशाला किस ओर है। पूरब घूमा, पश्चिम घूमा, उत्तर घूमा, दक्षिण घूमा—कहीं कुछ न पता लगा। चारों तरफ़ सड़कें थीं, लेकिन सब सड़कों पर अन्धकार! काफ़ी देर इधर-उधर भटकते रहने पर एक टिमटिमाता हुआ चिराग़ दिखाई दिया। सोचा, वहाँ कोई होगा, चलकर पूछा जाय। मैं उसकी ओर ठीक इस प्रकार बढ़ा चला जा रहा था, जैसे समुद्र में डूबता हुआ कोई तैराक किनारे की ओर। धीरे धीरे पहुँच ही गया। देखा, दीपक का प्रकाश खिड़की में से आ रहा था। दरवाज़े पर फिर दस्तक देनी पड़ी। अन्दर से फिर एक आदमी लैम्प लिये आता दिखाई दिया। दरवाज़ा खुलते ही आवाज़ आई—"क्या है?" जब तक मैं उत्तर दूँ मुझे सुनाई पड़ा—"अरे, तुम फिर आगये!" मैंने गर्दन उठाई। वही हेडमास्टर साहब थे, जिनके घर से मैं थोड़ी ही देर पहले अपना-सा मुँह लेकर विदा हुआ था। बात यह हुई कि इधर-उधर घूमते मुझे दिशा-भ्रम हो गया और मैं कोल्हू के बैल की तरह

जहाँ से चला था, वहीं फिर आ पहुँचा। पृथ्वी के गोल होने का एक अच्छा प्रमाण मेरे हाथ लगा, और मेरे निश्चित रूप से चोर होने का मास्टर साहब के—

"दौड़ो! दौड़ो! देखो, इसे अभी निकाला था, अब यह पिछवाड़े की ओर से आया है।" हेडमास्टर साहब की चिल्लाहट सुनकर दो ही चार मिनट में आस-पास के लोगों ने मुझे घेर लिया। कोई कहता, "पुलिस को बुलाओ," कोई कहता, "नहीं, थाने में ही ले चलो।" जो कुछ न कहता वह चार चपत लगाने का प्रस्ताव तो कर ही देता। मेरी अक़्ल हैरान थी, क्या करूँ, क्या न करूँ! बुरा फँसा था। कैसे विश्वास दिलाता कि मैं चोर नहीं हूँ। एक ज्ञानार्थी यात्री हूँ। क़िस्मत का मारा हेड मास्टर साहब के चंगुल में फँस गया हूँ। लोग कहते थे—"देखिए न! अन्धेर है! अभी अभी निकाला था। फिर इतनी जल्दी हिम्मत की है।" उन्हें क्या मालूम जो उनके लिए अन्धेर है, वही मेरे लिए महा-महा अन्धेर है। विपत्ति पड़ने पर कहते हैं अक़्ल मारी जाती है, लेकिन जब आदमी को और कोई सहारा नहीं रहता तब बुद्धि ही उसके काम आती है। मैंने उसी को साहस के सहारे खड़ा करने की कोशिश करते हुए कहा—

"देखिए, मैं दूर से चल कर आया हूँ। थकान से चकनाचूर हूँ। आप मुझे बैठने के लिए जगह दीजिए और फिर ठंडे पानी का एक गिलास। फिर बैठ कर कृपया मेरी बात सुन लीजिए। यदि आप लोगों को विश्वास हो जाय कि मैं चोर नहीं हूँ तो कृपया एक बार फिर अपना आदमी दे दीजिए मुझे धर्मशाला का रास्ता दिखा देने के लिए। और यदि विश्वास न हो तो थाने में भेज दीजिए; या और जो चाहे कीजिए।" वे लोग बुरे आदमी न थे। और बुरे आदमी में क्या भलाई नहीं होती! मेरी बात सुन ली गई। एक स्टूल बैठने के लिए दिया गया—वैसा ही जैसा गर्मियों में पङ्खा खींचनेवाले कुलियों को दिया जाता है कि यदि उस पर बैठे बैठे ऊँघें तो धड़ाम से गिर पड़ें। और पानी का एक गिलास भी। मैंने स्थिरता से बैठकर हलके-हलके पानी पिया

और अपना थैला खोलकर उनमें से दो चिट्ठियाँ निकालीं। दोनों परिचय-पत्र थे। एक था ग्वालियर-पुरातत्त्व-विभाग के डायरेक्टर के नाम और दूसरा निज़ाम के हैदराबाद के प्रधान मन्त्री महोदय के नाम। दोनों में मेरा साधारण परिचय था और यदि वे मुझ ज्ञानार्थी यात्री की कुछ सहायता कर सकें तो धन्यवाद के दो शब्द। निज़ाम हैदराबाद का तो पत्र मैंने ख़ास तौर पर इसलिए ले लिया था क्योंकि मैंने सुना था कि बिना परिचय-पत्र के पकड़ कर जेल में भी डाल दिया जा सकता हूँ। हाँ, तो मैंने अपने दोनों परिचय-पत्र दिखाते हुए कहा—

"यदि ये पत्र किसी चोर के पास हो सकते हैं तो मैं चोर हूँ और यदि इन पत्रों के रखने वाले की चोर न होने की भी कुछ सम्भावना है तो मैं चोर नहीं हूँ।" लोगों की आपस में फुस-फुस हुई और चाहे मैं कोई भी होऊँ, निश्चय हुआ मुझे धर्मशाला ही भेजने का। वही आदमी फिर मेरे साथ कर दिया गया और उसके पीछे-पीछे मैं ऐसे चलने लगा जैसे अखाड़े में हारा हुआ कोई पहलवान। बस्ती दूर न थी। दिशा-भ्रम न हुआ होता तो मैं भी कब का धर्मशाला पहुँच गया होता। लेकिन अब तो रात काफ़ी हो गई थी। शायद दस बज चुके थे। ग्यारह भी बज गये होंगे। सर्दियों में रात के नौ बजे ही गरमियों की आधी रात हो जाती है। दस बजे तक तो कोई चोर उचक्के और दुखिया ही जागते रहते हैं। मैं उस रात चोर भी था, उचक्का भी और शायद दुखिया भी। धर्मशाला पहुँचा तब पता लगा कि दरवाज़ा बन्द हो चुका है और अब किसी तरह नहीं खुल सकता।

"यही धर्मशाला है" कह कर आदमी मुझे छोड़ कर चलता बना।

अब क्या करूँ ! कहा जाऊँ ! धर्मशाला में बाहर की ओर एक बरामदा था। मैंने उसी में रात काटने की सोची। पास में कपड़ा काफी नहीं था तो क्या ! सर्दी ज़ोर से पड़ रही थी तो क्या ! और कोई चारा ही नहीं था। अँधेरे में अन्दाज़ करके मैं एक कोने में बैठ रहना चाहता था कि आवाज़ आई— "कौन है ?"

मैंने कहा—"मुसाफ़िर।"

"इतनी रात गये आये हो?"

"हाँ, भाई, आज ऐसी ही बीती।"

"इधर आ जाओ। उधर हवा लगेगी"—कहते हुए उस अपरिचित आवाज़ ने मुझे अपने पास के कोने में बुला लिया।

"तुम कहाँ से?"—मैंने पूछा।

"हम तो भिखमंगे हैं। अंधे हैं, दिखाई नहीं देता।"

अन्धे भिखमंगे के पास लेटने का जीवन में पहला अवसर था। कितने पैसे मिले? क्या खाने को मिला—कुछ ऐसे ही सवाल मैंने पूछे। लेकिन मैं तो व्यग्र था अपनी सुनाने के लिए। उस रात मुझ पर जो बीती थी उसे सुननेवाला मिला था पहले पहल मुझे वही अन्धा। अथ से इति तक मैंने सब कह सुनाई। उस सहानुभूति के साथ जो एक दुखिया को दूसरे दुखिया से होती है, वह अन्धा मेरी बातें सुनता रहा। राम-कहानी ख़त्म हुई तब अँधेरे में टटोलते हुए उसने पूछा—

"कहाँ हैं तुम्हारी टाँगें? उन्हें ज़रा दबा दूँ।"

मैंने कहा—"न यार! रहने दो।"

"अच्छा, यह बताओ तुम्हारे पास कोई कपड़ा है?"

"है।"

"कहाँ है? मुझे दो।"

मेरे पास वही एक साफ़ा था—गज़-डेढ़ गज़ का टुकड़ा। मैंने दे दिया। अन्धे ने अपने हाथों से मेरी टाँगों को टटोला और नीचे से ऊपर तक कस कर बाँध दिया। उसने कहा।—"अब थोड़ी देर ऐसे ही बैठे रहो।" गहरी सहानुभूति दिखानेवाले की आशा का उल्लङ्घन आसान नहीं होता। मैं मूर्तिवत् बैठा रहा। थोड़ी देर के बाद उसने मेरी टाँगें खोल दीं। रुका हुआ ख़ून तेजी से दौड़ने लगा। मालूम हुआ थकावट जाती रही। बातें करते-करते नींद आ गई। सुबह उठा तब देखा मेरा साथी मुझसे पहले ही उठकर चला गया है।

धर्म व्यक्तिगत चीज़ है

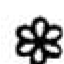
चार साल पूर्व की बात है। मैं साँची* के बौद्ध स्तूप देखने के लिए गया था। शाम को जब स्तूप के दर्शन करके स्टेशन की ओर लौटा, तो लोगों ने बताया कि 'साहब' आने वाले हैं और सलाह दी कि मैं उनसे मिल कर ही लौटूँ। 'साहब' से उनका मतलब था भूपाल रियासत के पुरातत्व विभाग के प्रधानाध्यक्ष से। मैंने समझा कि अवश्य ही कोई टोपधारी 'साहब' होंगे। गाड़ी आई, लोग उतरे; लेकिन साहब उन में एक भी न था। एक सज्जन चूड़ीदार पायजामा, लखनवी मिरज़ई, और काली टोपी पहने उतरे। लोगों ने बताया, यही 'साहब' हैं। उनका बङ्गाली 'घोषाल' नाम सुन कर स्वप्न में भी यह ख़्याल न आया कि आप ईसाई होंगे। लेकिन अगले दिन जब एक साथ भोजन करने बैठे, तब मालूम हुआ कि पहले आप ब्राह्मण थे, अब ईसाई हो गये हैं। साँची से भूपाल लौटते समय आपने मुझे अपने साथ भूपाल चलने के लिये कहा! मेरी इच्छा पहले से ही उधर जाने की थी। सहर्ष साथ हो लिया। घर पहुँचा तो देखा एक वृद्धा स्वागत करने के लिये आगे खड़ी हैं। घोषाल जी ने बताया कि आप मेरी माता हैं और हिन्दू हैं। मेरी समझ में न आया कि मामला क्या है। एक ही परिवार में ईसाई पुत्र और हिन्दू माता दोनों इकट्ठे कैसे रहते हैं? शाम को वृद्धा ने मुझे गीता का पाठ सुनाने को कहा। इसे मैंने अपना सौभाग्य समझा।

---

*साँची भूपाल राज्य में है। भगवान बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्र और मौद्गलयायन के अस्थि-अवशेष इसी जगह से मिले हैं। ये आजकल ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं।

भोजन के समय वृद्धा ने मुझे तो चौके में अपने पास बैठा कर भोजन कराया, लेकिन अपने पुत्र के लिये सदा की भाँति चौके से बाहर भोजन भेजा। हिन्दू देवी अपने चौके में ईसाई को भोजन कैसे करावे ! ऐसा पुत्र-बहिष्कार किसे मीठा न लगेगा !

दूसरे दिन प्रातःकाल जब मैं कुछ खा-पीकर निश्चिन्त हुआ तो वृद्धा आईं और बोलीं, "स्वामी जी ! आज मेरे बेटे के गिरजे में सब से बड़े पादरी (Bishop) आने वाले हैं। आप उन्हें देखने चलेंगे ?" "चलूँगा, माता जी !" मैंने कहा। थोड़ी देर में घोषाल महाशय के समेत हम तीनों ताँगे में बैठ कर उनके विशप को देखने के लिए गिरजे में गये। वहाँ पहुँच कर घोषाल महाशय तो अपने सहधर्मियों के साथ बेंच पर सिर नवा कर प्रार्थना में तल्लीन हो गये; किन्तु उनकी माता और मैं—दोनो एक ओर बैठे साक्षी बने यह सब देखते भर रहे।

उस दिन अपने जीवन में पहली बार मैंने एक हिन्दू देवी को न केवल ईसाई पुत्र के घर में, किन्तु उसके गिरजे तक में अपने व्यक्तिगत धर्म की दृढ़ता-पूर्वक रक्षा करते देखा। कितनी सराहनीय थी उस देवी की विवेक-बुद्धि ! घोषाल महाशय ने ईसाई होकर भी न केवल अपने स्वदेशी वेष को ही नहीं छोड़ा, किन्तु अपने ब्राह्मण-गोत्र तक को सुरक्षित रक्खा। मुझे कई बार आपकी याद आई है, लेकिन आप से कहीं अधिक याद आई है आपकी पूज्य माता की, जिन्होंने मेरी समझ में धर्म के व्यक्तिगत होने के तत्व को भली प्रकार समझ लिया था।

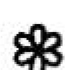
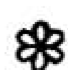
(२)

सन्ध्या का समय था। एक सभा में व्याख्यान दे कर कोलम्बू से कैलानिया की गाड़ी पकड़ने के लिये मैं स्टेशन की ओर बढ़ा चला आ रहा था। साथ में दो युवक मुझे स्टेशन तक पहुँचाने साथ आए। ये परस्पर मित्र थे। वेष-भूषा प्रायः दोनों की समान थी। वे कोट पहने,

पतलून डाटे और टोप लगाये थे। उनमें से एक का नाम विक्टर था। वह इस जल्दी में भी मुझ से बुद्ध-धर्म के विषय में प्रश्न पूछता चला आ रहा था। भिक्षु के साथ अपने मित्र की इस प्रकार गहरी छनती देखकर विक्टर के दोस्त ने पूछाः—

"विक्टर! क्या तुम बौद्ध हो गये हो?"

"यार! क्या मैंने तुम्हें बताया नहीं कि मैं बौद्ध हो गया हूँ?" कह कर फिर वही पूछ-ताछ शुरू कर दी। स्टेशन समीप था। गाड़ी तैयार थी। इसलिये अधिक प्रश्नोत्तर न हो सके और वे दोनों युवक मुझे गाड़ी में बिठा कर वापिस लौट गए।

आज इस बात को कई दिन गुज़र गए। साधारण सी बात होने पर भी न जाने यह क्यों मेरे स्मृति-पट से नहीं उतरा। कई बार विचार आया है कि क्या अपने देश में भी यह सम्भव है कि कोई मुसलमान युवक इस प्रकार चुपचाप हिन्दू हो जाए और उसके मुसलमान मित्रों को इस बात का पता भी न लगे कि उनका दोस्त हिन्दू हो गया है। और पूछने पर उसे कहना पड़े—"यार! क्या मैंने तुम्हें बता नहीं दिया कि मैं हिन्दू हो गया हूँ?" अथवा कोई हिन्दू युवक ही अपने समाज में बिना किसी प्रकार की खलबली मचाए मुसलमान हो जाए और उसे बाद में अपने मित्रों को केवल यह कहने की ज़रूरत पड़े कि "यारो, क्या तुम्हें मालूम नहीं कि मैं अब मुसलमान हो गया हूँ?"

विक्टर और उसका मित्र पहले दोनों ईसाई थे। अब विक्टर बौद्ध हो गया है और उसका मित्र पूर्ववत् ईसाई है। विक्टर को ईसाई से बौद्ध होने के लिए किसी प्रकार के विशेष बाहरी संस्कार में से गुज़रना नहीं पड़ा। और न ही इस धर्म परिवर्तन से दोनों मित्रों के परस्पर के व्यवहार में किसी प्रकार का अन्तर ही पड़ा। दोनों जो पोशाक पहले पहनते थे, वही आज भी पहनते हैं। पहले दोनों एक साथ खाते थे, आज भी खाते हैं। पहले भी एक की

बहन का विवाह दूसरे के साथ हो सकता था, आज भी हो सकता है। अन्तर केवल इतना हुआ है कि पहले जहाँ विक्टर महाशय ईसाई होने से 'बुद्धं शरणं गच्छामि' कहने में संकोच अनुभव करते थे, अब उनके लिये वही वाक्य आन्तरिक सन्तोष और उल्लास का कारण है। ईसाई रहते ईसाई-धर्म उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति था; बौद्ध होने पर अब बौद्ध-धर्म उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति है। धर्म व्यक्तिगत विश्वास की चीज़ है। उसका सामाजिक प्रथाओं से क्या सम्बन्ध ! सामाजिक प्रथायें समाज के लिये हानिकारक होने पर बदल दी जाती हैं और बदल दी जानी चाहियें। लेकिन समाज को कोई अधिकार नहीं कि किसी के व्यक्तिगत धर्म में हस्तक्षेप करे।



महान धार्मिक नेता—
अनागारिक धर्मपाल

आज १७ सितम्बर है। पूरे ८० वर्ष हुए, आज ही के दिन लङ्का में एक बालक का जन्म हुआ था—जिसका नाम था 'दोन डेविड'।

उसकी जन्म तिथि के ५० वर्ष पूर्व सन् १८१५ में लङ्का द्वीपकी स्वातन्त्र्य पताका पूरी तरह झुक गयी थी। अंग्रेज़ों के अधीन होने के बाद देश की जो अवनति आरम्भ हुई वह ईसाई धर्म प्रचारकों के बाढ़ की तरह सारे द्वीप में फैल जाने के कारण दिन दूनी रात चौगुनी होती गयी। १८५० में जेम्स डी ऐलविस् नाम के एक पण्डित ने भविष्यवाणी की—यह शताब्दी समाप्त होते होते लङ्का से बुद्ध धर्म अन्तर्हित हो जायगा! इस समय सिंहलवालों की दुर्बलता सीमोल्लंघन कर गयी थी। सरकारी नौकरियाँ केवल ईसाइयों के लिए थीं। ऊंचे पदों पर आसीन अनेक सिंहलनिवासियों ने अपने पूर्वजों का धर्म छोड़ ईसाई मत स्वीकार कर लिया था। अनेक लोग केवल नौकरी चाकरी के लिए वाह्य रूप में ही ईसाई बन, छिपे तौर से 'बौद्ध जीवन' व्यतीत करने पर मजबूर थे। अनेक लोग अदालत में 'रिलीजन' (धर्म) पूछे जाने पर 'बौद्ध' होने पर भी अपने को 'बौद्ध' न कह सकते थे।

ऐसे समय लङ्का के प्रसिद्ध 'हेवा वितारण' परिवार के 'दोन कादीलिस हेवा वितारण' तथा माता मल्लिका देवी के घर में दोन डेविड का जन्म हुआ। पिता जैसे श्रद्धालु थे, माता वैसी ही स्नेहमयी। बालक की आरम्भिक शिक्षा उसकी भावी आवश्यकताओं के अनुरूप हुई—घर में धर्म में दृढ़ भक्ति का पाठ पढ़ाया जाता और ईसाई स्कूलों में ईसाइयत का। डेविड ने दोनों को ही यथोचित रीति से हृदयंगम किया।

१८७३ में सिंहल में एक विशेष घटना घटी, जिसका परिणाम आश्चर्यजनक हुआ। मिगे टुवत्त गुणानन्द नाम के वादपटु भिक्षु का ईसाई पादरियों के साथ पानदुरे में शास्त्रार्थ हुआ, जिसका विस्तृत वृत्तांत अमेरिका स्थित कर्नल हेनरी स्टील आलकाट के कानों तक पहुँच गया। वह उससे ऐसे प्रभावित हुए कि १८८० में अमेरिका से चलकर गाल्ल (दक्षिण लङ्का) में आकर उतरे। यहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने प्रथम व्याख्यान 'थियोसोफ़ी और बौद्ध धर्म' से लोगों को प्रभावित करने के बाद 'त्रिशरण' ग्रहण कर अपने 'बौद्ध' होने की घोषणा की। १८८१ में ओलकाट की ही प्रेरणा से लङ्का में कई बौद्ध समितियाँ स्थापित हुईं।

श्री दोन डेविड की शिक्षा ईसाई स्कूलों में ही होती थी। लेकिन १८८३ में रोमन कैथोलिक ईसाइयों ने बौद्धों के जुलूस पर जो पत्थर फेंके और जिसके परिणामस्वरूप उभयपक्ष में बड़ा झगड़ा हुआ। उससे प्रभावित हो पिता ने आज्ञा दी—"अब से ईसाइयों के स्कूल मेंम त जाओ।" सिंहल में कोई बौद्ध स्कूल न था। इसलिए घर पर ही वे पढ़ने लगे। इसी समय उनकी रुचि थियोसोफ़ी की ओर हुई और वह उसके सदस्य बन गये।

१८८४ में थियोसोफ़िकल सोसायटी का काम करते हुए श्री डेविड ने जीविकार्थ क्लर्की की नौकरी भी कर ली किन्तु वह उसमें शायद ही दो वर्ष रहे क्योंकि १८८६ में ही उन्होंने अपने माता-पिता से, सांसारिक जीवन में न लग, लोकोपकारी जीवन व्यतीत करने के लिए 'ब्रह्मचारी' बने रहने और ब्रह्मचारी बने रह कर केवल थियोसोफ़ी का काम करने की आज्ञा मांगी। १८८६ से १८९० तक श्री डेविड थियोसोफ़ी की ही सेवा में रहे। इसी बीच १८८८ में आपने डेविड नामका परित्याग कर उसकी जगह 'धर्मपाल' नाम रख लिया।

सारनाथ तथा बुद्धगया

'एशिया का आलोक' के प्रसिद्ध लेखक श्री एडविन आरनाल्ड ने बुद्ध गया के सम्बन्ध में एक विस्तृत लेख लिख कर सारे सभ्य संसार का

ध्यान बुद्धगया की ओर आकर्षित करने की कोशिश की। उसे पढ़कर श्री अनागरिक धर्मपाल इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सारनाथ तथा बुद्धगया आने का संकल्प ही नहीं किया किन्तु १८६१ में आप सिंहल से यहाँ आ ही पहुँचे। अपनी डायरी में आपने लिखा है—"१८६० में मुझे पता लगा कि गुणरत्न कोजेन जापानी भिक्षु कोलम्बो से बोधि मण्डप की पूजा के लिए बुद्धगया जा रहे हैं। मेरी भी इच्छा हुई कि उनका साथी बन जाऊँ। धार्मिक मातापिता के खर्चे से उस जापानी भिक्षु के साथ मद्रास आया और वहाँ श्री आलकोट के इच्छानुसार कई दिन अडयार में रह कर १८६१ के जनवरी महीने की बीस तारीख को इसापतन (बनारस) पहुँचा। वहाँ ध्वस्त विध्वस्त चैत्यकी पूजा कर २२ जनवरी को बुद्धगया पहुँचा......यहीं अपना जीवन मैंने तथागत की सेवा के लिए समर्पित कर दिया।"

इस वर्ष लङ्का में महाबोधि सभा की स्थापना हुई और बुद्धगया में महाबोधि सभा के लिए थोड़ी सी ज़मीन ख़रीदी गयी और इस एक वर्ष के भीतर ही अंग्रेज़ी में सब से प्रिय बौद्ध पत्रिका, 'महाबोधि' भी वैशाख पूर्णिमा के दिन—जिस दिन तथागत को महाबोध प्राप्त हुआ था, प्रकाशित हुई।

विदेशों में प्रचार

सन् १८६३ में जब अनागारिक धर्मपाल की आयु केवल २६ वर्ष की थी, उन्हें शिकागो से आचार्य बरोस ने विश्व धर्म सम्मेलन में बौद्ध धर्म का प्रतिनिधित्व करने के लिए प्रेमपूर्ण आमन्त्रण भेजा। आचार्य बरोस ने महाबोधि में प्रकाशित अनागारिक धर्मपाल के लेख पढ़े थे और उन्हीं लेखों से प्रभावित होकर उन्होंने यह आमन्त्रण भेजा। 'सर्वधर्म सम्मेलन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

'चौड़े माथे पर पीछे पड़ी हुई काले केशों की राशि, चमकती हुई आँखों की जोड़ी, और तरङ्गों की तरह बहने वाली वाक्य धारा को जिसने भी देखा, उस पर यही प्रभाव पड़ा कि यह कोई सच्चा धर्मवीर है......।"

उस विश्व धर्म सम्मेलन में आपके जो व्याख्यान हुए उनका विदेशी पण्डितों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। श्री सी० टी स्ट्रास नामक प्रसिद्ध बौद्ध लेखक ने वहीं और उसी समय बौद्ध धर्म ग्रहण किया था।

जिस समय अनागारिक धर्मपाल का जहाज़ अमेरिका से होनोलुलू आ रहा था उस समय होनोलुलू द्वीप के तट पर अनेक लोग प्रसिद्ध धर्मप्रचारक को देखने के लिए आये। उनमें एक मेरी फोस्टर भी थीं। आपने बातचीत में पूछा—"क्या आपका धर्म कोई ऐसा उपाय बताता है, जो चिड़चिड़े स्वभाव को बदल सके?"

अनागारिक धर्मपाल ने पूरे आत्म-विश्वास के साथ कहा—'हाँ' और उपाय बताया। श्रीमती फोस्टर को लाभ हुआ। तभी से उन्होंने अनागारिक धर्मपाल से बराबर पत्र व्यवहार रखे। १९०३ तक वह समय समय पर अनागारिक के काम को चालू रखने के लिए थोड़ी थोड़ी मदद करती रहीं लेकिन १९०३ के बाद तो नियम से प्रति वर्ष २०००) रु० भेजने लगीं।

बुद्ध गया पर अधिकार

अमेरिका से लौटते समय रास्ते में अनागारिक धर्मपाल जापान उतरे। यह उनकी दूसरी जापान यात्रा थी। पहली बार भारत आने से पूर्व वे कर्नल आलकोट के साथ हो आये थे। जापान में आपने अनेक भाषण किये। उनसे प्रसन्न हो असही नामक एक स्थविर ने आपको लगभग ७०० वर्ष की पुरानी एक विशाल बुद्ध मूर्ति बुद्ध गया में स्थापनार्थ दी। बुद्धगया के शैव अधिकारी हेमनारायण गिरि महन्त के आदमियों ने मूर्ति न रखने दी। सरकारी सहायता से यह पास की धर्मशाला में स्थापित की जा सकी।

पता लगा कि बुद्धगया गाँव टिकारी राजा की जमीदारी में है और वे एक लाख रुपये में गाँव को बेंच देने के लिये तैयार हैं। अनागारिक धर्मपाल ने उसके लिए धनसंग्रह किया। सरकारी हस्तक्षेप के कारण वह गाँव न खरीदा जा सका। महन्त से ही एक लाख रुपये टिकारी

राज्य को दिलवा कर बीस वर्ष के लिए वह गाँव महन्त के नाम लिख दिया गया।

बुद्धगया के सम्बन्ध में मुकदमा

जब देखा कि और कोई उपाय सफल नहीं हो रहा है, तो अनागारिक ने अपने वकील की सलाह से अदालत में दावा कर दिया। नीचे से ऊपर तक की अदालतों में यह मुकदमा लड़ा गया, जिसमें अनागारिक धर्मपाल के कोई २३०००) रुपये ख़र्च हुए। उधर महन्त की ओर से भी लगभग एक लाख रुपये ख़र्च हुए। बुद्धगया पर बौद्ध का अधिकार तो स्थापित नहीं हो सका। हाँ, अदालत की ओर से भी यह स्वीकार कर लिया गया कि बुद्धगया बौद्धों का मन्दिर है, हिन्दुओं का नहीं।

अनागारिक धर्मपाल के विविध कार्य

१८९५ में अनागारिक धर्मपाल ने परिव्राजक वेष (पीतवस्त्र) ग्रहण कर लिया। भिक्षु-नियमों का पालन उन्हें अपने कार्य में बाधक प्रतीत होता था इसलिए उन्होंने भिक्षु की प्रव्रज्या को किसी आगामी समय के लिए छोड़ा। १८९५ से १९३३ तक का जीवन अनेक नवीन सूझों को कार्य रूप में परिणत करने का सतत प्रयत्न रहा। उन्हें सारनाथ के उद्धार करने का ख़्याल आया। अपने जीवनकाल में ही उन्होंने मूल-गन्धकुटी विहार का उद्घाटन देख लिया। वह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का हुआ। कलकत्ते में धर्मराजिक विहार बनवाने का विचार हुआ। उन्हीं दिनों सरकार को दक्षिण में एक चैत्य से बुद्ध की धातुओं की प्राप्ति हुई थी। सरकार ने अनागारिक से पूछा कि यदि वह धातु उन्हें दे दिये जांय तो वह उस मन्दिर के बनवाने में, जिसमें वह धातु रखी जा सके, कितना खर्च कर सकेंगे? अनागारिक का उत्तर था—"पचास हज़ार।" उस समय उन्होंने वह उत्तर केवल अपने आत्मविश्वास के बल पर ही दे दिया था। सिंहल में अनागारिक द्वारा संस्थापित अनेक संस्थाएं हैं—अख़बार है, प्रेस है, अनाथाश्रम है, अस्पताल है, और है कालेज। संसार के अनेक देशों में उनके द्वारा

संस्थापित महाबोधि सभा की शाखाएं हैं। भारत में कई विश्वविद्यालयों में पाली के अध्ययन को अग्रसर कराने में उनका हाथ है। न जाने कितने आदमियों के मन में उन्होंने बौद्ध धर्म के अध्ययन और उसके प्रचार की आग लगा दो है। आश्चर्य होता है यह देख कर कि तीन चालीस वर्ष में उन्होंने कितना कार्य कर डाला।

श्री फोस्टर के लाखों रुपये के सात्विक दान का जैसा सदुपयोग अनागारिक धर्मपाल के हाथों हुआ, वैसे दान और वैसे सदुपयोग से ही महान् कार्य सिद्ध हो सकते हैं।

आज यदि वे होते तो अपने लगाये हुए लगभग सभी पौदों को फला फूला देख कितने प्रसन्न होते!

१९३३ में २९ अप्रैल को इसी सारनाथ में ही अनागारिक का शरीरान्त हुआ। उनके शरीर की भस्म उनकी इच्छा के अनुसार आज मूलगन्ध कुटी विहार में एक छोटे स्तूप में रखी है।

जिस मूलगन्ध कुटी विहार को उन्होंने हृदय में जगह दी थी, शरीरान्त होने पर उस मूलगन्ध कुटी विहार ने ही उनके शरीर की भस्म को सुरक्षित रखा है।



माँ का हृदय

मध्याह्न का समय—बौद्ध भिक्षुओं के दिन का आरम्भ अथवा अवसान ? एक प्रश्न है, पुराना प्रश्न—एक नाम किं ? अर्थात् वह कौन सी एक बात है जो सत्य है ? और उसका उत्तर है—'सब्बे सत्ता आहार ठितिका'—सभी प्राणियों की स्थिति आहार पर आश्रित है। जैन मुनि ही नहीं, जैन गृहस्थ भी सूर्य्य डूबने पर भोजन करना अनुचित समझते हैं; बौद्ध भिक्षुओं का सूर्य्य मध्याह्न में ही डूब जाता है। अपराह्न में अथवा मध्यान्हानन्तर उनके लिए सब खाद्य-भोज्य वर्जित है। प्राणी का जीवन आहार पर आश्रित है। आहार कई प्रकार का माना गया है, लेकिन मैं यहाँ स्थूल आहार का ही ज़िकर कर रहा हूँ—और भिक्षुओं का आहार-ग्रहण का समय, आखिरी समय ठीक मध्याह्न है, इसी से मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि मध्याह्न भिक्षु के दिन का आरंभ होता है, वा अवसान ? लेकिन जीवन में हम जिसे आरम्भ कहते हैं वह ही कोई अवसान भी होता है, इसलिए वस्तुतः आरम्भ और अवसान में कोई अन्तर नहीं। यूँ थोड़ा विचार करने पर तो मेरा प्रश्न ही निरर्थकता की ओर अग्रसर होता चला जाता है।

हाँ, तो मध्याह्न का समय था। हममें से कुछ स्नान कर चुके थे, कुछ भोजन की पूर्व तैयारी अर्थात् स्नान कर रहे थे। उधर से एक मलिन-केशा, मलिन-वस्त्रा देवी बङ्किम बाबू की 'बहु-बल धारणीम्' भारत माँ की प्रतिनिधि नहीं, बल्कि आज की धूल धूसरित, पददलित भारत जननी की प्रतिनिधि एक 'माँ' बेतहाशा--बड़ी ही व्यग्रता के साथ आती दिखाई दी। वह रो रही थी, चिल्ला रही थी, मानो वह तीनों लोकों को खाने जा रही थी। उसका रोना विवशता का रोना न

था; उसका रोना प्रतिशोध की भावना से भरा था। वह आई और जहाँ पर हम लोग स्नान कर रहे थे; जहाँ पर हमारी भोजनशाला थी—ठीक उसके सामने आकर बैठ गई। उसकी गोद में उसका लाल था उसकी छाती का टुकड़ा, जिसे संसार में आए कदाचित एक वर्ष न हुआ था। वह रोती थी, चिल्लाती थी और कारण पूछने पर अपना बच्चा दिखाती थी। हम लोगों का नहाना धोना छूट गया, जो खाने जा रहे थे, उनका खाना हराम हो गया। क्या वजह है, आखिर इसे हुआ क्या? कुछ डरा कर, कुछ धमका कर, कुछ सहानुभूति दिखाकर उसे बड़ी मुश्किल से चुप कराया गया। मालूम होता है लगातार चिल्लाते-चिल्लाते वह कुछ थक भी गई थी। नहीं तो क्या मजाल कि हम उससे उसके रोने का कारण जान पाते? जब कहां जान पाये तो पता लगा कि उस बच्चे की वह 'माँ' आज ही हमारे औषधालय से कोई दवाई ले गई थी, और जब से उसने वह दवाई पिलाई है तभी से लड़का बेहाल है, सिसकियाँ ले रहा है और माँ का ख़्याल है कि बच्चा कुछ घड़ियों का मेहमान है। उसे शक था कि बच्चेको कोई ग़लत दवाई दे दी गई है। उसकी आँखें उस कम्पाउँडर को ढूँढ़ रही थीं, जिसने आज दवाई दी थी, उसका दिल हम सब को शाप दे रहा था कि तुम लोगों ने यह औषधालय क्यों खोला, जहाँ से उसे दवाई मिली। हम लोग किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे, क्या करें, क्या न करें? ऐसे समय ही पता लगता है कि वास्तव में मानव कितना बेबस है। माँ अपने बच्चे के लिए छाती फाड़-फाड़ कर चिल्ला रही थी; हम चिल्ला नहीं रहे थे लेकिन हमारा मरण था। हस्पताल बन्द हो चुका था; डाक्टर कम्पाउँडर कोई नहीं था। तुरन्त एक कर्मचारी को साइकिल पर दौड़ाया कि कम्पाउँडर को जल्दी से जल्दी लिवा लाये। कम्पाउँडर आया, उसने आते ही लड़के की हालत देख कर पूछा—"पानी पिलाया है?" माँ ने सिर हिला दिया। "पगली कहीं की, हल्ला मचाया है, लड़का पानी न मिलने से सिसकियाँ भर रहा है" कहते हुए श्री बद्रीनाथ ने ज़रा सा पानी मंगाकर लड़के के गले के नीचे उतारा।

पानी मुँह में जाते ही लड़के की आँखें खुल गईं, सिसकियाँ बन्द हो गईं और 'माँ का हृदय' ! वह लेखनी ही अभी पैदा नहीं हुई, जो माँ के हृदय की उस अवस्था का वर्णन कर सके जो अपने बच्चे के चाँद से खिलते मुखड़े को देख कर उसकी हुई।

× × ×

मुझे इतना ही याद है कि मैं उस समय शिशु न था, बालक था और बालक भी ऐसा कि कुछ कुछ लड़का हो चला था। मेरे माता-पिता न दरिद्र थे, न धनी; हाँ, संतोष धन की उनके पास कमी न थी। क्या आपने कभी सुना है कि किसी की तनख्वाह में वृद्धि करने के लिए कहे जाने पर वह कहे कि 'वृद्धि करने से आखिर क्या फ़ायदा होगा, तनख्वाह में वृद्धि के साथ ख़र्चा बढ़ जायगा ?' मेरे पिता ने उनके अत्यन्त साधारण वेतन में वृद्धि करने की बात चलने पर याद आता है, एक बार यही उत्तर दिया था। जिस शहर में मेरा बचपन बीता, वह इतना बड़ा नहीं था कि उसे शहर कहा जा सके और इतना छोटा भी नहीं कि उसे क़स्बा कहा जा सके। वह एक शहर की छावनी थी—मुख्य रूप से फ़ौजी सिपाहियों का डेरा।

हमारे घर के सामने जो पक्की सड़क थी, उसके दूसरी ओर एक अहाता था, जिसको हमें बग़ीचा कहने में कोई एतराज़ नहीं होता, यदि उसमें एक भी फूल-पत्ता होता; लेकिन तब भी उसका नाम बग़ीचा था। सत्यवादी बने रहने का प्रयत्न करने के नाते यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि उसमें एक कैथ, एक इमली और एक करौंधे का वृक्ष था और एकाध प्रायः सर्वत्र मिलने वाला नीम भी। हाँ, उसके एक हिस्से में एक मन्दिर था, जिसके मध्य में शिवजी और दीवार में हनुमान्‌जी की सिन्दूर से सोलह आने लिपी-पुती 'हाथ में सोटा, लाल लँगोटा, मुख में नागर पान,' मूर्ति थी। हम लोगों के लिए वह हनुमान्‌जी का ही मन्दिर था।

उस अहाते में प्रायः ईंटों के ढेर पड़े रहते थे। अवश्य वह कोई न कोई मकान बनाने के ही उद्देश्य से वहाँ लाई जाती थीं, लेकिन

ऐसा मकान जो प्रायः बनता नहीं था। मुहल्ले भर के लड़कों का वह अहाता 'खेल का मैदान' था। छुट्टी का दिन हो तो दिन भर, नहीं तो शाम को तो हम सब लोगों का जमावड़ा रोज़ की बात थी। दो खेल हम लोगों के विशेष प्रिय थे एक 'चुड़ैल मार डण्डा' और एक बिना नाम का। 'चुड़ैल मार डण्डा' अन्तरप्रान्तीय खेल है, नाम रूप में थोड़ा थोड़ा भेद होगा वैसा ही कम जैसा हिन्दू-मुसलमान में। उसमें वृक्ष पर चढ़कर शखाओं के सहारे कूदना होता है। इस खेल से जब हम थक जाते अथवा जिस दिन खेलने का मन न होता, उस दिन हम लोग मिलकर उन 'बेकार' पड़ो ईंटों का बड़ा सा किला बनाते। आलों दार चार दिवारी जब चाहो बना लो, जब चाहो गिरा दो। अन्दर ईंटों की ही कुर्सियाँ बनतीं। उन पर राजा बैठते, मन्त्री बैठते, प्रधान सेनापति बैटते; और हाँ राजा की रानी भी। बिना विशेष आत्म-बल वा आत्म-निर्बलता के कोई लड़का राजा की रानी बनने को तैयार न होता, लेकिन फिर बन ही जाता था। एक दिन सूर्योदय होते होते हम लोगों का दरबार लग गया। विचारणीय विषय यह था कि शत्रु पक्ष से लड़ने के लिये कौन कौन नये शस्त्र काम में लाए जा सकते हैं? हमारे प्रधान सेनापति का प्रस्ताव यह था कि किसी शेर का पंजा काट लाना चाहिए। क्योंकि उसके नाख़ून बड़े ही तेज़ होते हैं, और लड़कों की लड़ाई में कोई दूसरा शस्त्र उसका मुक़ाबला नहीं ही कर सकता। इस योजना के सामने हमारे आलपिन, हमारे ईंट-पत्थर, हमारे छोटे-मोटे चाक़ू हमारे सब शस्त्र निकम्मे थे। और शेर का पंजा काट लाने जैसा आसान काम तो हम लोगों को दूसरा मालूम न देता था। जिस समय हम लोग अपने प्रस्ताव पर गंभीरतापूर्वक विचार कर रहे थे, एक ओर से आवाज़ आई 'बलवा' हो गया। कैसे हुआ, क्या हुआ, इन सबकी जानकारी की हमें ज़रूरत नहीं थी। मनुष्य की आत्म-रक्षा की सहज-प्रवृत्ति (Instinct) ने हमें इतना सुना दिया था कि यह जिधर सींग समाय उधर भाग निकलने का समय है। क्षण भर में हमारा राज-दरबार उजड़ गया। क़िले की चार दिवारी गिर गई।

जिधर जिसका मुँह था उधर ही वह भागा। कौन किधर भागा, इसकी एक दूसरे को बिल्कुल ख़बर न लगी। इन पंक्तियों के लेखक ने पिछली तरफ़ मुड़कर देखा ही नहीं—एक गली, दूसरी गली, तीसरी गली—न जाने कितनी गलियाँ लाँघ गया। आख़िर हाँपते-हाँपते एक मुहल्ले में एक परिचित के घर पहुँचा। दरवाज़ा बन्द था। खट-खटाते ही खुल गया। उन्होंने कोई 'घर का आदमी' समझ कर दरवाज़ा खोला, तो भी मेरा 'घर के आदमी' की तरह ही स्वागत किया। सुबह के नौ दस बजे से लेकर शाम के पाँच-छः बजे तक मैं उसी घर में क़ैद रहा। खाने को पूरी मिली, पराँवठे मिले, मिठाई मिली, लेकिन क़ैद क़ैद थी; और उसके साथ महती भीति जो लगी हुई थी।

आज तक उस बलवे के यथार्थ कारण की खोज नहीं कर पाया हूँ, उस समय जो ख़बर हम लड़कों को लगी थी, उसका संस्कार बाक़ी है—यही सुनने में आया था कि किसी दिन फ़ौज के कुछ सिपाही शहर में सौदा ख़रीदने आये। उनकी एक मिटाईवाले दुकानदार से तू-तू मैं-मैं हो गई। उस समय वह चुपके लौट गये। इतवार का दिन उनकी छुट्टी का था। अपने बड़े अफ़सर से आज्ञा लेकर अपने साथियों सहित वह शहर लूटने और मिठाई वाले से बदला लेने चले आये। कोई तो कहता था कि उस मिटाई वाले को तो उन्होंने ऐसे बिठा दिया जैसे साबुन की टिकिया। इस कथन के साथ भय के कारण का इतना सम्बन्ध रहने पर भी न जाने उस दिन यह 'साबुन की टिकिया' की उपमा क्यों इतनी अच्छी लगी थी? तब से आज तक किसी कहानी वा उपन्यास में पढ़ने को न मिली।

उसी घर में बैठे बैठे सुनता रहा कि सिपाहियों ने अमुक बाज़ार लूट लिया है, अब अमुक। अब अमुक को मार डाला है, अब अमुक को। कैसे दुबक कर बैठे रहना पड़ा उस दिन! घर की याद आती थी बार-बार, यही सोच कर संतोष करता था कि जैसे मैं यहाँ दुबक कर बैठा हूँ, वैसे ही घर पर लोग ताला बन्द किये सुरक्षित बैठे होंगे। बीच-बीच में जाने का नाम लेता, तो लोग न जाने देते। कहते अभी सिपाही

घूम रहे हैं। शाम को पाँच-छः बजे के बाद इन लोगों ने घर से बाहर निकलने दिया।

सन्ध्या होते-होते मैं घर पहुँचा वैसे ही भागता हुआ और छिप-छिप कर जैसे आया था। यद्यपि शहर में अब शान्ति थी, लेकिन मुझे अभी भी डर ही लग रहा था। सोचता था, 'न जाने केहि रूप में नारायण मिल जायँ।' आख़िर घर पहुँचा। देखता क्या हूँ 'माँ' घर पर नहीं हैं। बहन ने और पास-पड़ोस के लोगों ने बताया कि वे मुझे ढूँढ़ने गई हैं। मैं बिलख-बिलख कर रोने लगा। माँ मुझे ढूँढ़ने गई हैं, मैं उन्हें ढूँढ़ने कहाँ जाऊँ ? एक तो पता नहीं कि कहाँ गईं। दूसरे यदि मैं उन्हें ढूँढ़ने निकलूँ, तो वह लौट आकर भी मुझे न पायेंगी। पड़ोसियों ने बताया कि वह सुबह से शहर भर में चक्कर काट रही हैं। एक उस परिचित को छोड़कर जिसके यहाँ मैं छिपा था, शेष सभी परिचितों के यहाँ हो आई हैं। प्रत्येक घंटे, डेढ़ घंटे पर घर आती रही हैं और मुझे नदारत देखकर फिर बाहर निकल जाती रही हैं। मैंने तो पूरी खाई, परौंवठे खाये और मिठाई खाई। उन्होंने न अन्न ग्रहण किया है जल। उस समय मेरी जो अवस्था हुई उसका संकार मन पर लाने से, इस समय भी आँखें भींगी जा रही हैं। पास-पड़ोसियों ने मुझे माँ को ढूँढ़ने न जाने दिया। यही कहते रहे 'अब आती होंगी, अब आती होंगी।' जब मेरे लिए और प्रतीक्षा करना एक दम असह्य हो गया और लोग पकड़-पकड़कर मुझे बाहर जाने से रोक रहे थे, माँ सीढ़ियों से चढ़ती आती मालूम दीं। बेटे ने माँ की आहट पहचान ली, और माँ ने बेटे की ध्वनि। माँ बेटा दोनों बिलख-बिलख रोने लगे। न रोते तो न जाने उनका क्या हाल होता।

× × ×

उक्त दोनों घटनाएँ—एक अभी ताज़ी, एक कम से कम २५ वर्ष पुरानी—मानस शास्त्र के किसी अर्ध-ज्ञात नियम के कारण बार-बार मानस पटल पर आकर उस समय मँड़राने लगीं, जिस समय आज

'अंगुत्तर-निकाय' (पाली) में मैंने भगवान् बुद्ध का निम्नलिखित प्रवचन पढ़ा—

"भिक्षुओ, दो जनों के उपकार का बदला आसानी से नहीं दिया जा सकता, माता के उपकार का और पिता के उपकार का। यदि कोई अपने एक कंधे पर माता को और दूसरे पर पिता को लेकर फिरे और सौ वर्ष तक उनका नहलाना, धुलाना, पैर दबाना इत्यादि करे और वे उस पर मल-मूत्र भी कर दें तो भिक्षुओ, इतने से भी न माता-पिता के प्रति यह कोई उपकार होता है न उनके उपकार का बदला। और भिक्षुओ, यदि कोई अपने माता-पिता को इस सारी पृथ्वी का राजा भी बना दे, तो भी भिक्षुओ, न माता पिता के प्रति यह कोई उपकार होता है न उनके उपकार का बदला! यह क्यों? भिक्षुओ, माता-पिता का बहुत उपकार है। माता-पिता ने पैदा किया है, माता-पिता ने पोषण किया है, माता-पिता ने ही हमें यह दुनिया दिखाई है।"



यह विज्ञापन !

ग्राहक कोई चीज ख़रीदना चाहता है और विक्रेता बेचना, लेकिन जब तक ग्राहक को यह पता न हो कि उसकी वाञ्छित वस्तु कहाँ मिलेगी अथवा विक्रेता को यह पता न हो कि जो चीज वह बेचना चाहता है उसका कौन खरीददार है, तब तक न ग्राहक की इच्छा पूरी हो सकती है, न विक्रेता की। जो व्यक्ति अथवा जो संस्था ग्राहक को इस बात की सूचना देने का काम अपने ज़िम्मे लेती है, वह निस्सन्देह ग्राहक और विक्रेता दोनों की सेवा करती है और इस लिए वह व्यक्ति तथा संस्था समाज के धन्यवाद के साथ साथ कुछ पैसों की भी हक़दार अवश्य है।

सिद्धान्ततः किसी वस्तु का विज्ञापन देने में, किसी समाचारपत्र के उसे छापने में कोई बुराई नहीं। 'विज्ञापन' छापना समाज की एक सेवा है, जो किसी न किसी को करनी ही होगी।

प्रश्न केवल यह है, कि समाचार-पत्रों में जो इतनी तरह के विज्ञापन छपते हैं, वह क्या सब समाज-सेवा के ही ख्याल से छपते हैं ? किसी समाचार पत्र के मैनेजर वा सम्पादक से बातचीत कीजिए; वह तुरंत स्वीकार करेगा कि अनेक 'विज्ञापन' ऐसे हैं जिनका छापना वे समाज की सेवा की अपेक्षा अ-सेवा या कु-सेवा ही समझते हैं, किन्तु क्या करें, 'विज्ञापन' न छापें, तो उनका अख़बार कैसे चले ! एकमात्र समाजसेवा की ही दृष्टि जो विज्ञापन छपने चाहिए, उन विज्ञापनों के छापने का मुख्य उद्देश्य हो गया है विज्ञापन-दाताओं से पैसे खरे करना; और 'विज्ञापनदाता' भी किसी समाचार पत्र को पैसे देते हैं

केवल इसीलिए, क्योंकि वह उन्हें अपने ग्राहकों से पैसे खरे करने में उनका मददगार होता है। कई समाचार-पत्र तो केवल विज्ञापनदाताओं और ग्राहकों के बीच कागज़ की एक पतली दीवार मात्र हैं, जिसकी ओट में बैठ कर दोनों एक दूसरे पर गोली चलाना चाहते हैं; बद-क़िस्मती से गोली जाकर बैठती है ठीक बिचारे ग्राहकों की ही पेशानी पर। कहना अनावश्यक है कि इस लूट में विज्ञापन-दाता और समाचार-पत्र दोनों का हिस्सा रहता है।

पत्रों में जो विज्ञापन छपते हैं, उन्हें हम चार हिस्सों में बाँट सकते हैं :—

१. पुस्तकों के विज्ञापन।
२. चाय-चीनी के विज्ञापन।
३. धोखा-घड़ी के विज्ञापन।
४. अश्लील विज्ञापन।

पुस्तकों के विज्ञापनों में कुछ भी ठग-विद्या नहीं है, सो तो कहना कठिन है; लेकिन फिर भी हम उन्हें पुस्तकों के विज्ञापन समझ कर इस लिए छोड़ देते हैं, कि समझदार लोग उन विज्ञापनों में जो थोड़ी बहुत ठगी रहती है, उससे अपनी रक्षा आप कर लेंगे। ठगों से बचने का यदि कोई सबसे अच्छा उपाय है, तो अपनी जेब पर स्वयं हाथ रखना ही है। यूँ भी साधारणतया अच्छी पुस्तकों के विज्ञापनों से दूसरे विज्ञापन दाताओं की तुलना में न विज्ञापन दाताओं को ही विशेष लाभ होता है, न समाचार-पत्रों को ही और ग्राहकों को तो प्रायः लाभ ही होता है—हानि कभी ही।

दूसरा नम्बर है चाय-चीनी आदि के विज्ञापनों का। प्रायः बड़ी बड़ी पूंजी-पति कम्पनियाँ ही चाय-चीनी के विज्ञापन देती हैं और इसी ज़रिये समाचारपत्र इससे अच्छी ख़ासी रक़म पाते हैं। इन 'विज्ञापनों' को न लेने के निश्चय का मतलब होता है घर आई लक्ष्मी को ठुकराना। इसी लिए हम देखते हैं कि किसी और पत्र की तो बात ही क्या, काशी का "आज" भी उनके बिना काम नहीं चला सकता। चाय-

चीनी के इश्तहार जिस हिसाब से समाचार-पत्रों की जेब गरम करते हैं, उसी हिसाब से वे पाठकों की जेब कतरते हैं। उसके साथ उनकी एक विशेषता यह भी है कि उन्हें होशियार से होशियार पाठक को भी पढ़ना पड़ता है। आजकल कई पाठक 'विज्ञापनों' को दूर से ही सलाम कर लेते हैं। ऐसे पाठकों के लिए यह विज्ञापन 'लेखों' के से बने बने ठीक 'पाठ्य सामग्री' के बीच में रहते हैं। एक कोने में छोटा-सा सांकेतिक अक्षर 'वि०' लिखकर सम्पादक समझते हैं कि उन्होंने अपने पाठकों को सचेत कर दिया कि अमुक 'लेख', लेख नहीं है, विज्ञापन है। लेकिन क्या इससे वे अपनी ज़िम्मेदारी से मुक्त हो जाते हैं? एक ओर चीनी का विज्ञापन और दूसरी ओर गुड़ की श्रेष्ठता पर लेख, जब हम एक ही पत्र और कभी कभी एक ही अंक में छपा देखते हैं, तब मालूम होता है कि गुड़-गोबर एक की कहावत ठीक चरितार्थ हुई है।

तीसरा नम्बर है धोखा-धड़ी के विज्ञापनों का। हमारा एक प्रिय पत्र सामने है। जनता में उसका बड़ा प्रभाव है। हमारा काम उसके बिना चल ही नहीं सकता। उसमें एक विज्ञापन है—'कलङ्की अवतार भगवान का जन्म संभलपुर में हो गया। भगवान शङ्ख-चक्र और गदा पद्म के साथ चतुर्भुज रूप में विद्यमान हैं' क्या यह श्रद्धालु पाठकों की जेब पर दिन-दहाड़े डाका डालना नहीं है? कौन अकल का अन्धा गांठ का पूरा १) खर्च करके इन कलङ्की अवतार का दर्शन करना, इनका जीवन चरित्र पढ़ना नहीं चाहेगा? एक और इश्तहार है '३॥=) में, एक नहीं, दो नहीं पूरी दस घड़ियाँ। घड़ियों के साथ एक फौन्टेन-पेन मय १४ केरिट गोल्ड निब के, एक असली ठण्डी ऐनक, एक खूबसूरत मोतियों का हार'—कोई सोचे ये घड़ियाँ हैं या मिट्टी के ठीकरे! लेकिन विज्ञापन-दाता जानते हैं कि जब तक ठगों की दुनियां है, तब-तक बेवकूफों की दुनियां भी बनी ही रहेगी। एक आध ही ऐसी ठग-विद्या प्रचलित हो तो मौन धारण किया जा सकता है। इसी एक अङ्क में कहीं 'करामाती दर्पण' है तो कहीं 'सिद्ध योगेन्द्र कवच'। आप २) ३।) वा ६) खर्च करके यह कवच मँगा लें। फिर चाहें तो दुर्भाग्य

और शत्रु का नाश, चाहे नौकरी, चाहे सन्तान, चाहे धन, चाहे व्यापार में लाभ, चाहे परीक्षा में पास, चाहे मुक़दमे में जीत, चाहे कठिन से कठिन रोगों से छुटकारा, चाही अनचाही सब चीज़ें आपको प्राप्त हो सकती हैं। भोले-भाले लोगों की अक़्ल और पैसे पर डाका डालने के ख़िलाफ़ क्या सचमुच कोई क़ानून नहीं है? इस प्रकार के किसी किसी इश्तहार पर लिखा रहता है—'बे-फ़ायदा साबित होने पर १००) इनाम।' जिस कवच से विज्ञापन-दाता को इतना फ़ायदा होता हो, उसे 'बे-फ़ायदा' कौन सिद्ध कर सकता है?

इन तीनों प्रकार के विज्ञापनों से भी अधिक भयानक वे विज्ञापन हैं जो हमारे पैसे और अक़्ल के साथ साथ हमारे चरित्र पर भी डाका डालते हैं। आप किसी भले पत्र को देखिये, आप को उसमें कहीं न कहीं लैङ्गिक बीमारियों के एक दो इश्तहार ज़रूर मिल जाएँगे। जिन बीमारियों ने चिकित्सा-शास्त्र की सट्टी पट्टी भुलाई हुई है, उनको यह २४ घंटे में या एक शीशी में दूर करने का दावा करते हैं। और इनसे भी बढ़कर हैं 'कोक-शास्त्र' तथा 'काम-शास्त्र' के इश्तहार जिनमें साफ़ ही लिखा रहता है (१) खुफ़िया (२) एकान्त में बैठकर देखने के क़ाबिल (३) ऐसे ऐसे भेद जिनका लिखना सभ्यता के विरुद्ध है। कितना अनाचार है! कितना अत्याचार है! जिन 'भेदों' का लिखना सभ्यता के विरुद्ध है, उन्हीं भेदों को लिख लिख कर, छाप छाप कर जनता के पैसे, और चरित्र को एक साथ दोनों हाथों से लूटा जाता है। और तारीफ़ यह कि इसकी खुली छुट्टी है।

यदि यह अवाञ्छित और निन्दनीय विज्ञापन ऐरे ग़ैरे पत्रों में ही छपते, तो कुछ ख़ैर थी। यह छपते हैं उन पत्रों में जिनकी ग्राहक संख्या भी अधिक और जिनका प्रभाव भी अधिक। आख़िर यह छपते क्यों हैं? हाय रे पैसा! हमने एक बार अपने एक सम्पादक मित्र से कहा—भाई, तुम्हारा अख़बार भी इन विज्ञापनों से अछूता न रहा। जवाब मिला—आप इतने ग्राहक दे दें, हम नहीं छापेंगे। मतलब यह कि या तो हम उन्हें उतने ग्राहक दें, नहीं तो वह उनके कई गुणा ग्राहकों की

लूट के साधन बनने से बाज़ न आवेंगे।

सौभाग्यशाली हैं वे थोड़े से पत्र जो इस बला से मुक्त हैं। हम जानते हैं कि बहुतेरे दूसरे पत्र भी अपने को इस कलङ्क से कलङ्कित करना नहीं चाहते; लेकिन उनके सञ्चालकों के सामने अधिक कठिनाइयाँ हैं—पैसे की विशेष तंगी है। तो भी इसका कुछ इलाज होना चाहिये। एक इलाज तो यह है कि जिन अच्छे पत्रों को हम इस बला से मुक्त देखना चाहते हैं, उनकी ग्राहक संख्या खूब बढ़ावें।

हमारे यहाँ पाठक संख्या तो है—ग्राहक संख्या की ही बिलकुल कमी है। यूरोप में दूसरों का अखबार माँग कर पढ़ना बुरा समझा जाता है और हमारे यहाँ अपना खरीद कर। यह अवस्था अभी कितने दिन चलेगी ?



पुण्य-स्मृतियाँ

जब मुझे अपने दिल को कुछ पवित्र करना होता है, मैं उनकी याद कर लेता हूँ। वे कौन हैं ?

सिंहल द्वीप के एक प्रसिद्ध साप्ताहिक अखबार 'सिलुमिन' में प्रति सप्ताह 'दादा की चिट्ठी' छपती थी। रङ्ग-ढङ्ग ऐसा होता था कि जैसे कोई बड़ा-बूढ़ा अपने पोतों पर पोतों को सम्बोधन करके लिख रहा हो। भाषा ऐसी कि लाख प्रयत्न करने पर भी नकल न की जा सके।

अखबार हाथ में आते ही लोग सबसे पहले 'सियागे ल्यूम' (दादा की चिट्ठी) पढ़ते। बात उसमें वही रहती जिसे प्रत्येक बौद्ध बालक जानता है। लेकिन उसकी अभिव्यक्ति ऐसे अनूठे ढङ्ग की होती कि सिंहल के बड़े-से-बड़े धर्मोपदेशक भी उसे पढ़ने के लिए लालायित रहते। बच्चों का तो कहना ही क्या ? उनके लिए तो 'सिलुमिन' का मतलब ही हो गया था—'सियागे ल्यूम'।

परन्तु 'दादा' के अपने बच्चों को दिये गये वे अमृत-भरे उपदेश पत्र के ईसाई-ग्राहकों को खटकने लगे! वे अपने बच्चों को 'सिलुमिन' पढ़ने से रोकते। कारण, उसमें 'सियागे ल्यूम' छपती है। कई लोगों ने अपने बच्चों को उस लेखमाला के प्रभाव से बचाये रखने के लिए अखबार को खरीदना ही छोड़ दिया। 'दादा' की उन चिट्ठियों में एक भी शब्द किसी व्यक्ति या धर्म के खिलाफ नहीं रहता था। जो वाणी रहती थी वह कल्याणी। तब भी सम्प्रदाय-विशेष के लोग उससे डरते थे। किसी की लेखनी के जोरदार होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा! सिंहलवासियों को जब 'दादा की चिट्ठी' पर इस प्रकार लट्टू देखता तो मैं सोचता—कौन होंगे ये बड़े-बूढ़े दादा जो प्रति सप्ताह द्वीप-भर के बालकों को ऐसी ओज-भरी भाषा में अमृत-पान कराया करते हैं ? किसी

दिन इन्हें देखना चाहिए। यह इच्छा दिन-प्रतिदिन बलवती होने लगी।

इसी बीच में सिंहल के 'दिनमिन कार्यालय'* से एक तरुण आया। बोला—मुझे कार्यालय ने एक धार्मिक प्रश्न के बारे में, जो कि उन दिनों लङ्का में विवाद-ग्रस्त था, आपका और राहुलजी का 'इटर्व्यू' लेने के लिए भेजा है। जो कुछ उसने पूछा, बता दिया। वह चला गया।

यह उस तरुण से प्रथम परिचय था।

फिर कभी-कभी उसकी चिट्ठी आती कि लेख भेज दें। राहुलजी संस्कृत में बोलकर सिंहल में लेख लिखवा देते और वे वहाँ छपते।

एक दिन मुझे किसी कार्य-वश 'दिनमिन' कार्यालय जाना पड़ा। वहाँ मेरा कोई परिचित नहीं था। मुझे उसी तरुण की याद आई। नाम का पूरा-पूरा ध्यान नहीं था। मैंने शकल-सूरत बताकर कार्यालय के कर्मचारियों से उसका पता लगाना चाहा। पता लग गया। भेंट करने पर--परिचय बढ़ने पर—उस दिन पहली बार पता लगा कि वह तरुण स्वयम् 'सिलुमिन' का सम्पादक था और 'सिलुमिन' में प्रति सप्ताह प्रकाशित होने वाली 'सियागे ल्यूम' का लेखक भी। मुझे अपने से बड़ी निराशा हुई। विश्वास ही न होता था कि यह 'सियागे ल्यूम' का लेखक है।

उन्हीं दिनों उसे 'दिनमिन' के एक विशेषांक का सम्पादन-भार सौंपा गया। वह इतना सुन्दर निकला कि उसने उसे और भी मेरी नज़रों में चढ़ा दिया।

---

*सिंहल के दो साप्ताहिक—एक सिंहल भाषा में, दूसरा तमिल में—और दो दैनिक—एक सिंहल भाषा में, दूसरा अंग्रेजी में—इस एक ही कार्यालय से निकलते हैं। 'दिनमिन' सिंहल दैनिक है और प्रभावशाली। इसी से लोग प्रायः 'दिनमिन-कार्यालय' ही कहते हैं। 'दिन' का मतलब है सूर्य और 'मिन' का मणि : दिन-मिन=सूर्यमणि।

यह स्मृति शायद सन् ३० की है और अब है सन् १९४०। दो साल हुए पता लगा कि एक दिन उन्होंने अपने वेतन का अधिकांश अपने एक मित्र की मार्फ़त घर भेज दिया। थोड़े से रुपयों से एक सादा धोती-कुर्ता ले, रेल में बैठ धनुष्कोडी से रामेश्वरम् तक जहाज़ में आये और भारत-तट पर उतरे। अपना कोट, अपनी पतलून, अपनी हैट, अपने बूट जो कुछ भी पहने थे, सब उतार कर जो भिखमंगा पहले मिला उसे दे दिये। स्वयं धोती कुर्ता पहन, खाली हाथ उत्तर-भारत के बौद्ध तीर्थस्थानों की ओर चल दिये। भूख लगती, किसी दाता से कुछ माँग कर खा लेते। किसी 'बस-स्टैण्ड' पर जा खड़े होते, कोई बिठलाता, बैठकर चल देते। इसी प्रकार सुना वे सारनाथ भी आये। किसी से पूछा कि बाहर के यात्री यहाँ धर्मशाला में कितने दिन ठहर सकते हैं? उत्तर देनेवाले ने कहा—तीन दिन। वे बिना किसी से कुछ कहे-सुने तीसरे दिन चले गये। यहाँ से विचरते हुए वे कलकत्ते पहुँचे और वहाँ से चटगाँव। चटगाँव में दीक्षा ग्रहण कर पीत वस्त्र-धारी भिक्षु हो गये। वहाँ मलेरिया ने पकड़ा। किसी प्रकार छुटकारा पाकर कलकत्ते आये। मुझे पता लगा तो मैंने श्री देवप्रियजी (मंत्री महाबोधि सोसाइटी) को लिखा कि भिक्षु मैत्रेय मेरे पूर्व परिचित हैं। आप उन्हें मेरी ओर से आग्रह करके ले आयें। वह यहाँ आये। तीन महीने हमारे साथ रहना स्वीकार किया। आग्रह करने पर एक महीने और रहे। क्या आप अपने किसी भी परिचित या मित्र का नाम ले सकते हैं, जिसके बारे में आप कह सकें कि वह चार महीने लगातार साथ रहा और इतने अरसे में उसने एक भी शब्द न झूठ कहा, न कठोर; और न ही बोला एक भी शब्द फ़ज़ूल? भिक्षु मैत्रेय के बारे में (और केवल भिक्षु मैत्रेय के बारे में) मैं यह कह सकता हूँ। उनकी याद से इस समय वाणी ही नहीं, संकल्प-विकल्प तक शांत होते प्रतीत हैं।

कुछ दिन वे हम लोगों के साथ हमारे भोजनालय में भोजन करते रहे; लेकिन हम लोगों की वाचालता कदाचित उनको नहीं रुची। वे

रोज़ अपना भिक्षा-पात्र लेकर भोजनालय के पास आ खड़े होते। जो कुछ उन्हें मिलता, ले जाकर कहीं बैठकर खा लेते और पात्र धोकर रख देते। कभी-कभी ऐसा होता कि रास्ते में उन्हें एक अन्धी भिखारिन भीख माँगती मिलती; वे अपना सब दाल-भात उसके बर्तन में उड़ेल देते और अपना पात्र धोकर शान्ति से जा बैठते। कभी उन्हें कोई ऐसा करते देख लेता, तो दौड़कर दुबारा दाल-भात ला देता। नहीं तो अपना 'सर्वस्व' देकर स्वयं दूसरे दिन तक निराहार रहते। एक दिन किसी ने पूछा—भन्ते, आपने अपना भोजन उस अंधी भिखारिन को क्यों दे दिया !

उत्तर में तीन शब्दों का केवल एक वाक्य था—She was hungry. (वह भूखी थी।)

किसी को भोजन देने के लिए इसके अतिरिक्त और क्या विचारणीय है !

× × ×

वह यहाँ से चले गये। बहुत रोकने पर भी नहीं रुके। एक बार उनका एक पत्र आया था। मुझे याद है, उसमें उन्होंने सारनाथ के पशुओं तक के लिए मंगल-कामना भेजी थी। यहाँ की गौएँ भी उन्हें क्यों भूलेंगी ! वे उन्हें भिक्षा-पात्र में से जो बचता था, खिलाते थे। यहाँ के स्कूलों के विद्यार्थी भी उन्हें क्यों भूलने लगे ! वे उन्हें नित्य अपने बचनों से आह्लादित और उत्साहित करते थे। और यहाँ के भिक्षु तो प्रायः उनकी याद करते ही हैं। किसी-न-किसी प्रसंग में उनका नाम आ ही जाता है। वे मुझसे आयु और पद में छोटे थे। इसलिये प्रायः रोज़ सायं-प्रातः प्रणाम किया करते। बाह्यरूप से वे मुझे प्रणाम करते, लेकिन अपने मन में मैं ही प्रणाम करता था।

पिछले दिनों अंग्रेज़ी में उनका 'Aryan silence' (आर्य मौन) शीर्षक एक लेख देखा। उसमें उन्होंने लिखा है—

"सच्चे मौन की शक्ति है मौनी का गहरा प्रेम; सच्चे मौन की पवित्रता है मौनी का निष्पाप जीवन; उसका उपयोग है वही जो प्रदीप

का। मौन के प्रकाश में जीवन-मुक्त को प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थ स्वरूप में दिखाई देती है।

"आर्य-मौन की पवित्रता शब्दों का विषय नहीं; और जैसे सच्ची पवित्रता दुर्लभ है वैसे ही यह भी। यह जीवितों की शान्ति है, मृतों की नहीं। यह चन्द्रमा की शीतलता है, जो अपनी ओर भौंकनेवाले गीदड़ों को भी शान्ति करती है। यह शाल वृक्ष की छाया है, जो हमारे भीतरी विकास की परिचायक है—जिसका एकमात्र उद्देश्य है संसार की सेवा।

"यह फूल की कली का मौन है, जो पूर्ण रूप से विकसित होने के लिए शक्ति संग्रह कर रहा है।

"यह न चोर का मौन है न घातक का। उस मुर्ग़ी का मौन है जो अपने अंडे को से रही है। यह उस माता का मौन है जो अपने सोते बच्चे पर झुकी हुई है।

"जिस प्रकार माँ चुपचाप अपने बच्चे को पालती है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त चुपचाप संसार की सेवा करता है। वह अपने प्रेम-बल से संसार की रक्षा करता है।

"मौन तो गूंगे भी रहते हैं, लेकिन उनके दिल में तूफ़ान उठते हैं। आर्य-मौन का एक क्षण स्वर्ग को पृथ्वी पर ला सकता है।......

"आर्य-मौन जागरूक रहकर युद्ध करने के लिए है, आलसी बने रह कर सोने के लिए नहीं.........

"यह आर्य-मौन हँसी नहीं, खेल नहीं। केवल वही यह मौन रख सकता है, जिसके सभी स्वार्थमय विचार जाते रहे हैं जिसको कठोर शब्द बोलने की आवश्यकता नहीं और आवश्यकता नहीं किसी को तनिक हानि पहुँचाने की।.........."



अपरिग्रह

भिक्षुओं के विनय-पिटक में लिखा है—"जिसको रुपया-पैसा ग्राह्य है, उसके लिये इन्द्रियों के सभी विषय भी ग्राह्य हैं।" सन्यासियों को सोने-चाँदी का नहीं, वरन् धातु-मात्र का स्पर्श वर्जित है। कहते हैं—'कञ्चन-कामिनी नरक का द्वार है।' अपने जीवन में पैसा बटोरने की न कभी मेरी इच्छा हुई, न वह मुझे मिला ही। लेकिन खाने-पीने के लिये, आने-जाने के लिये कभी उसकी विशेष कमी नहीं हुई। तो भी मुझे एक बार ऐसा लगा कि सन्यासी के लिये रुपये-पैसे के सर्वथा अपरिग्रह जैसी कोई चीज़ नहीं। मैंने निश्चय कर लिया कि रुपये-पैसे से तनिक सरोकार न रखूँगा। जो मिलेगा, खा लूँगा, जो प्राप्त होगा, पहन लूँगा। कोई कहीं बुलायेगा, चला जाऊँगा; नहीं तो अपने आसन पर बैठा पढ़ता लिखता रहूँगा। जिस दिन यह निश्चय किया था, उस दिन मालूम होता था कि जीवन की अनेक ग्रन्थियों में से एक ग्रन्थि सुलझ गई, अनेक बन्धनों में से एक बन्धन कट गया। इस बात को आज बहुत दिन हो गये।

× × ×

लेकिन एक दिन एक सज्जन आये। उनसे पहले से परिचय न था। वे जिनके सम्बन्धी थे, उनके असाधारण व्यक्तित्व के कारण तुरन्त परिचय हो गया। वे रोगी थे। सारनाथ के पास की अस्पताल की चिकित्सा से असन्तुष्ट होकर बनारस के रामकृष्ण मिशन के 'सेवा आश्रम' में जाना चाहते थे। सेवा आश्रम के व्यवस्थापक महोदय को एक चिट्ठी लिख देने से वे उन्हें भर्ती कर लेंगे, ऐसी आशा थी। रोगी

को सारनाथ से बनारस इक्के पर भेजना था। इक्के के लगते थे ॥) आना। मेरे पास पैसे नहीं थे। मैंने तो उन्हें 'नरक का द्वार' समझ कर रखना छोड़ दिया था; लेकिन यहाँ 'सेवा-आश्रम' के द्वार तक भी पहुँचने के लिये उन्हीं की ज़रूरत थी। एक व्यक्ति से, जिसके हाथ में कई संस्थाओं के काफ़ी रुपये रहते हैं, मैंने कहा कि इस रोगी के पास 'सेवा आश्रम' तक जाने के लिये ॥) पैसे होते तो अच्छा था। बोले— 'मेरे पास ऐसा कोई फण्ड नहीं है, जिसमें से इसे दे सकूं।' बड़ी कठिनाई से उस रोगी के 'सेवा आश्रम' पहुँचने की व्यवस्था हो सकी।

उन्हीं दिनों एक सिंहल-देशीय विद्यार्थी काशी-विद्यापीठ में पढ़ता था। वह मेरे पास आया, बोला—'मैं सिंहल वापस जा रहा हूँ।' मैंने पूछा—'क्यों?' उसका उत्तर था—'घर से पैसे नहीं आते और यहाँ तंगी हो रही है।' मैं सिंहल में काफ़ी दिन रहा हूँ। वहाँ का मुझ पर बहुत ऋण है। सिंहल का कोई विद्यार्थी भारत आये और ख़र्च की तंगी से वापस चला जाय, यह मुझे अपने लिये लज्जा की बात लगी। मैंने कहा—'ठहरो, जाने का निश्चय स्थगित रखो। मुझसे जो बनेगा, करूँगा।' मुल्ला की दौड़ मसजिद तक। भिक्षुक का सामर्थ्य किसी से माँगने तक। किसी काम से मैं उन दिनों कानपुर गया। धनीराम जी भल्ला के यहाँ ठहरा। लौटते समय भल्ला जी स्टेशन तक पहुँचाने आये। रेल टिकट ले दिया और कुछ रुपये देने लगे। मैंने रुपये लेने से इनकार किया, लेकिन साथ ही कहा कि यदि चाहें, तो उस सिंहली-विद्यार्थी के लिये छात्र-वृत्ति बाँध दें। एक मुट्ठी दान आसान है, रोज़ रोज़ के वचन-बद्ध होना कठिन है। और उन दिनों कानपुर के जूतों के कारखानों में हड़ताल थी, जिसका उनके मन तथा व्यापार पर स्वाभाविक प्रभाव था। उनके बहुत आग्रह करने पर मैंने उनका वह दान इसी शर्त पर स्वीकार किया कि बिना वचन बद्ध हुए भी वे उस लड़के का ध्यान रखेंगे। सारनाथ लौटा, तब पता लगा कि वह लड़का सिंहल के लिये प्रस्थान कर गया है। मैंने भल्ला जी का दान 'सेवा आश्रम' के उस रोगी के पास पहुँचा दिया और भल्लाजी को उस विद्यार्थी की ओर

से निश्चिन्त कर दिया।

भल्ला जी के उस दान के बिना वह रोगी 'सेवा आश्रम' में बिना सुई लगने के पड़ा था। आश्रमवाले बाज़ार से सुई (इञ्जेक्शन) ख़रीदने के लिये बार बार कहते थे, हैरान करते थे; लेकिन वह किससे कहता ? उसे कौन ख़रीद कर देने वाला था ?

× × ×

और सुनिये। मैं सारनाथ की धर्मशाला के एक कमरे में रहता था। अपराह्न का समय। एक तरुण, खूब हट्टे कट्टे, मोटे ताज़े खादी पहने आये। शिष्टाचार के अनन्तर एक भले प्रकार परिचित व्यक्ति की भाँति बातचीत करने लगे। अपने दिमाग़ पर बहुत ज़ोर डाल कर मैंने उनका पूर्वपरिचय याद करने की कोशिश की। किसी 'परिचित' व्यक्ति से उसका परिचय पूछना क्या सहज कार्य है ? इधर-उधर के प्रश्नों से मामला हल करना चाहा। उलझन सुलझने की बजाय उलझती ही मालूम दी। काफ़ी बातचीत होने पर पता लगा कि आप उन ज्ञाने-प्सुओं में से हैं, जो किसी स्कूल अथवा डिग्री की अपेक्षा नहीं रखते और मधुमक्खी की वृत्ति धारण कर यत्र-तत्र सर्वत्र ज्ञानार्जन के लिये घूमते रहते हैं। आप अभी पटने से पैदल बनारस आये थे, और वहाँ से सारनाथ। आपकी इच्छा थी कि यहाँ रहकर बौद्ध-दर्शन पढ़ें। पाली के बौद्ध-साहित्य में मेरी थोड़ी गति है। संस्कृति-बौद्ध साहित्य का मेरा अधिक ज्ञान नहीं। मैंने पूछा कि आपने राहुलजी की किताबें पढ़ी हैं। उनका उत्तर था कि वे अभिधर्मकोष, वार्तिकालंकार आदि सब किताबें देख चुके हैं; अब उन्हें गुरुमुख से पढ़ना चाहते हैं। मुझे उनकी योग्यता और ज्ञानपिपासा ने प्रभावित किया। शाम को वे साथ सैर करने चले। आते-जाते रास्ते में कुछ हिन्दी कवियों की चर्चा चली, तब मैंने देखा कि उनकी आलोचना सारपूर्ण है। हाँ, वे स्वयं कवि थे। उन्होंने अपनी कुछ रचनाएँ सुनायीं भी। उनका कहना था कि वे बहुत अधिक गीत लिख चुके हैं, इतने अधिक कि उनकी संख्या पर

सहसा किसी को विश्वास न हो। अगले दिन मैंने, उसी नाम से जो उन्होंने अपना बताया था, 'सरस्वती' में उनका एक गीत देखा। रात को वे मेरे पास रहे। अगले दिन चले गये। उनकी इच्छा थी कि उनके भोजन, निवास स्थान आदि की व्यवस्था हो जाय और वे पढ़ें। मैंने कहा—'निवास-स्थान का प्रबन्ध धर्मशाला में हो सकता है, पढ़ने को पाली के चार अक्षर मैं जानता हूँ, वह मेरे साथ रह कर पढ़ सकते हैं। लेकिन हाय रे पेट! मुझे स्वीकार करना पड़ा कि उसे दोनों शाम भरने का सामर्थ्य मुझमें नहीं। ५)-७) मासिक में उस मेधावी तरुण की इच्छा-पूर्ति हो सकती थी। मैं उसका प्रबन्ध न कर सका। वह चला गया। जाते जाते कह गया—

बड़ी महंगी होगी हे देव! इस लघु जीवन की हार।

अभी अभी मैंने उस भाई को रामगढ़ कांग्रेस में देखा था—एक मैले कुरते, मैली धोती पर काला कम्बल ओढ़े। मैंने पूछा—"कहिए! यहाँ भी पैदल पहुँचे?" "नहीं गया तक पैदल ही आया था, आगे रेल में।" मैंने उन भाई की शकल ऊपर से नीचे तक देखी और अधिक बातचीत कर सकने का सामर्थ्य न होने के कारण चल दिया। मेरे कानों में अब भी वह एक पंक्ति गूंज रही थी—

बड़ी महँगी होगी हे देव! इस लघु-जीवन की हार।

× × ×

और सुनिए। यहाँ के हिन्दी मिडिल स्कूल में दो लड़के हैं—एक ब्राह्मण, एक चमार। हमारे समाज में अकारण ब्राह्मण लड़के का ऊँचा स्थान रहता है और चमार का नीचा। तराजू के दो पलड़ों की कमी पूरी करने के लिए एक पलड़े में पासङ्ग डालना उचित है। लेकिन दोनों असहाय हैं—इससे क्या ऊँच और क्या नीच? दोनों कठिनाई में हैं और कठिनाई में पले हैं। इसी से एक दूसरे के नज़दीकी हो गये। एक दिन रात को देखा—सर्दियों की रात थी। दोनों बरामदे में सो रहे थे। चमार लड़के के पास एक कम्बल और दरी थी, ब्राह्मण के पास केवल दरी। कम्बल की जगह पतली धोती ओढ़े सो रहा था।

रात को दूसरी बार आँख खुली। देखा, ब्राह्मण और चमार दोनों एक साथ एक कम्बल में सटे पड़े हैं। इस 'छोटी सी बात' का मेरे मन पर असर पड़ा। मैं फिर उस रात न सो सका। सोचता रहा—"कड़कड़ाती सर्दी ने एक रूढ़ि पर और उस रूढ़ि तोड़ने के भय पर, जो हमारे कोढ़ी समाज का हिस्सा बन गया है, विजय पा ली है। ब्राह्मण और चमार एक कम्बल ओढ़े सो रहे हैं।"

अगले दिन ब्राह्मण लड़के को एक वकील साहब की कृपा से एक कम्बल मिल गया।

चमार लड़के को छात्र-वृत्ति मिलती थी, ब्राह्मण को नहीं मिलती थी। वह कभी अपने सहपाठियों, कभी अपने अध्यापकों का आश्रित था। यह पंचायती-प्रबन्ध बीच-बीच में संतोषजनक न रहता। चमार लड़के से घनिष्ठता स्थापित करने में ब्राह्मण लड़के को नफ़ा भी था, नुक़सान भी। पेट की ज्वाला ने, दोनों विद्यार्थियों के हृदय की स्वाभाविक एकता ने समाज के भय को एक ठोकर लगाई। उनका भोजन कभी-कभी एक साथ बनने लगा। एक लड़के से विद्यार्थियों का दुराव था ही, दूसरे से भी हो गया। बिल्ली के भागों छींका टूटा। लड़कों ने कहा, इसने अमुक लड़के के साथ हिल-मिलकर 'अपना धर्म गँवा दिया' हम इसे 'सीधा' न देंगे। कभी-कभी जो पाव भर आटा चावल ला देते थे उससे छुट्टी मिल गई।

ब्राह्मण लड़के के पास न तो वस्त्र था, न था भोजन का प्रबन्ध। एक कम्बल तो खैर वकील साहब की कृपा से मिल गया था। अब भोजन का क्या हो! एक दिन कुछ भी खाने को न रहने से वह मेरे पास आया। मूलगन्धकुटी विहार के उत्सव के दिन थे। न काम की कमी थी, न भण्डारे में भोजन की। पाँच-सात दिन की व्यवस्था हो गई—'काम करते रहो, भोजन खाते रहो।' भूखे मरते ब्राह्मण बालक ने हमारे भण्डारे में दो-चार दिन भोजन क्या खा लिया—विष खा लिया। उसका रहा-सहा 'धर्म' चला गया। उसके 'बायकाट' की दीवारें पक्की हो गईं। अब वह क्या करे, कहाँ जाय! कुछ दिन ऐसे

ही चला। पीछे पास के एक गाँव से कुछ 'सीधा' मिलने की व्यवस्था हो गई और बनारस के एक महाजन के यहाँ से भी। लड़का माँगता-खाता जैसे-तैसे पढ़ रहा है।

अभी उस दिन वह मेरे पास आया था कि एक लैम्प की ज़रूरत है। रात को पढ़ने की अच्छी लालटेन १) या १॥) में आ जाती है। उसने कहा—रोटी तो अंधेरे में पक जाती है। लेकिन पढ़ना अँधेरे में कैसे हो। लालटेन का प्रबन्ध करने का मतलब था तेल का भी प्रबन्ध करना। मैं दोनों में से एक भी न कर सका।

पाठकगण! यह उस दिन की बात है जिस दिन सिकम के महाराज मूलगन्ध-कुटी में एक हजार दीपक--और वह भी घी के—जला कर पूजा में संलग्न थे।

और सुनिये। मैं स्नान कर रहा था। किसी ने कहा—"एक आदमी गोरखपुर से आये हैं। मिलना चाहते हैं।" मैंने कहा—"उन्हें बिठाओ, मैं आया।" जाकर देखता क्या हूँ—एक आदमी है। सर्वथा अपरिचित। साधारण वस्त्र, मैले, किन्तु ऐसे मैले नहीं कि उन्हें गन्दा कहा जा सके। गोद में एक बच्चा। उस ज़बानी सज्जनता का अधिक-से-अधिक व्यवहार करके, जो हम साक्षर लोगों की एकमात्र पूँजी है, मैंने पूछा—"कहिये भाई, कैसे आये?" बोले—"मैं एक जिल्दसाज़ हूँ। दो बच्चे थे। इनकी माँ मर गयी। दोनों को लेकर काम न कर सकता था। एक बच्चे को बनारस-अनाथालय में दे आया हूँ। दूसरा यह गोद में है। वापस गोरखपुर लौटना चाहता हूँ। पास में पैसा नहीं। मैंने सुना है कि यहाँ पुस्तकालय है। इसीलिये सारनाथ स्टेशन पर उतर गया हूँ कि आप मुझसे कुछ काम ले लें। पुस्तकों की जिल्द बंधवा लें। किसी तरह किराये के पैसे हो जायँ, तो गोरखपुर पहुँच जाऊँ।" मैंने पूछा—"पुस्तकाध्यक्ष से मिले?" बोला—"हाँ मिला, वे तो कहते हैं कि सब पुस्तकों की जिल्द थोड़े दिन पहले बंधवा चुके हैं। और पुस्तकें नहीं हैं।" मैंने कहा—"ठहरो, मैं कोशिश करूँगा।" बहुत कोशिश की। सचमुच पुस्तकाध्यक्ष असमर्थ थे। वे

कुछ न कर सकते थे। मेरी हिम्मत न हुई कि उस आदमी के पास कहूँ कि भाई, कुछ करने में असमर्थ रहा। एक लड़के के ज़बानी कहला भेजा। उसने वापस आकर कहा—"कहता है, तो भोजन तो करा दें।" मध्याह्न का समय होने से वह सम्भव था। भोजन खाकर वह न जाने कब किधर चला गया! बहुत सम्भव है, बिना टिकट रेल में चढ़ गया हो, और किसी-न-किसी स्टेशन पर किसी टिकट-बाबू के हाथों उसकी फ़ज़ीहत हुई हो।

हमारे पुस्तकालय में कई हज़ार किताबें हैं—पाली की, संस्कृत की, जर्मन की, अंग्रेज़ी की, फ्रेंच की, हिन्दी की, बंगला की, सिंहली की, स्यामी की, तिब्बती की—और न जाने किस-किस की। जिसके पास पेट भर खाने को है, उसके लिये आराम से बैठकर पढ़ने को गद्देदार कुर्सियाँ हैं—बड़ी ही नरम और मुलायम।

लेकिन जिसके पास पैसा नहीं, जिसके पास नौकरी नहीं, जिसे मानसिक भोजन से पहले पेट के लिये खाना चाहिये, उसके लिये हमारे पास भी क्या है? कुछ नहीं, कुछ नहीं।

और सुनिये। एक लड़का है। उसका नाम दे ही दूँ, उसकी जाति का परिचायक—कुल्लू। एक दिन नवम्बर की सर्दी में मेरे पास आया। खाँसी हो रही थी। छाती पकड़ कर बात करता था। 'खाँसी है?' 'हाँ।' 'इतना कम क्यों पहने हो?'—वह पहने था एक कुर्ता। बोला—'और है ही नहीं।' 'रात को क्या ओढ़ते-बिछाते हो?' पुआल पर यह धोती ओढ़ कर सोता हूँ।' आज दो महीने से वह बीमार है। बीच-बीच में उसकी बीमारी का समाचार मिलता रहा। कल उसने पिता के हाथ एक पुर्ज़ी भिजवाई—'स्वामीजी! मुझे आकर एक बार देख जाते।' शाम को गया। देखा, लड़का सूख कर लकड़ी हो गया है। चारपाई से लगा पड़ा है। रोग चला गया है, लेकिन उचित पथ्य के अभाव में चारपाई नहीं छोड़ सकता।

पिता ने कहा—"मालिक! मेरे इस लिपे-पुते घर को देखकर लोग कहते हैं कि घर में गाड़े होगा। लड़के से भी बढ़ कर कुछ है?

जो था, खर्च हो गया। महाजन से कर्ज काढ़ कर भी लगा दिया। अब मालिक कुछ नहीं है।"

उस लड़के की दादी रो रही थी। एक दूसरी औरत पास खड़ी कह रही थी—नसीब होगा, तो बच ही जायगा। राम-राम कहो, राम राम कहो।

लड़के को आवश्यकता थी दूध की, जो ग्वाला बिना पेशगी पैसा लिये नहीं देता था।

इस तरह की घटनाएँ रात-दिन होती हैं, हृदय को ठेस पहुँचती है और उसे पत्थर बनाती जाती हैं। मैं कभी-कभी दाँत पीसता हूँ और बहुधा हाथ मल कर रह जाता हूँ। मैं सोचता हूँ, किस काम का किसी साधु-संन्यासी का अपरिग्रह, जब वह ऐसी परिस्थिति में किसी के भी कुछ काम नहीं आ सकता।



बेवकूफी की भी हद होती है

हकीम लुकमान से किसी ने पूछा—आपने इतनी अकल कहाँ से सीखी ? बोले—बेवकूफों से।

कदाचित् मेरी बेवकूफी से भी कोई पाठक कुछ सीख लें।

सन् १९२८ के आखिरी महीनों की बात है। उस साल राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन मदरास में होने जा रहा था। मैं घूमता-घामता बङ्गलौर पहुँच गया और इस प्रतीक्षा में था कि अधिवेशन के दिन समीप आएँ तो मदरास के लिए प्रस्थान करूँ।

मेरे मेज़बान थे बंगलौर के प्रसिद्ध समाज सेवक श्री रामचन्द्र जी। इस समय उनके स्थापित किए हुए बंगलौर में कई आश्रम चल रहे हैं। लेकिन उन दिनों न उनके रहने-सहने का कोई ठीक ठिकाना था: न उनके अतिथि का। मैं कभी-कभी बंगलौर से बाहर भी आता जाता। जब बंगलौर में रहता, तो मेरा निवास स्थान होता प्रायः आर्य-समाज मन्दिर। उसी में एक छोटा सा स्कूल भी था। जहाँ आस-पास बच्चे हों, वहाँ कब कोई उदास रह सकता है।

एक दिन मैं शायद मैसूर से लौटा था। जो विद्यार्थी मुझे भोजन बना कर खिलाते थे, उन्होंने पूछा—क्या खायेंगे ? मुझे एक दो दिन से कब्ज था। मेरा ख्याल है, उस दिन मुझे कुछ नहीं खाना चाहिए था। लेकिन तभी वयो-वृद्ध, ज्ञान-वृद्ध वैदिक मुनि हरिप्रसाद जी का कथन याद आया; मैंने अपने विद्यार्थी-जीवन में एक बार उनसे पूछा था—स्वामी जी, कभी-कभी कब्ज रहता है, क्या किया जाय ? कदाचित

मेरे शक्की मिज़ाज का ख्याल करके बोले—पेट कोई छोटी डिबिया थोड़े ही है। एक दो दिन शौच नहीं आया; न सही। खाते पीते रहना चाहिए। मैंने कब्ज रहते हुए भी उन विद्यार्थी को भोजन बनाने के लिए कह दिया और साथ ही ताकीद कर दी कि पराँवठे बना सकें तो अच्छा। मैंने सोचा, जब कुछ घी पेट में जायगा तो कब्ज दूर करेगा ही। उसने पराँवठों के साथ आलू की तरकारी बनाई। जिसे मैंने भर पेट ही नहीं, यदि यह कहा जाय कि ठूँस-ठूँस कर खाया तो अधिक असत्य न होगा। मैं सोचता था कि जब चक्की में, ऊपर से और गँला (झींक) पड़ता है तभी तो आटा निकलता है।

भोजन किए थोड़ी ही देर हुई होगी; हलका-हलका पेट दर्द शुरू हुआ। उसी समय एक विद्यार्थी कहीं से दो पपीते ले आया; खूब सुन्दर पके हुए। मैंने उससे पहले पपीते कम खाये थे। लेकिन सुन रक्खा था कि पेट के लिए बहुत ही अच्छे होते हैं। विद्यार्थी के, खाने के लिए, पूछने पर मैं उन्हें भी खाने के लिए तैयार हो गया। पेट दर्द पहले ही था : एक या डेढ़ पपीता ऊपर से और ठूँस लिया। दर्द का क्या कहना ! तीव्र वेदना शुरू हुई। कुछ समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ क्या न करूँ ? छोटे-छोटे विद्यार्थियों को छोड़ और कोई आसपास था भी नहीं, जिससे सलाह लेना। आर्य-समाज के मंत्री वहीं रहते थे, लेकिन वे उस समय दफ़्तर गए हुए थे। जब पीड़ा अधिक बढ़ने लगी तो मुझे शीर्षासन का ख्याल आया। सोचा शीर्षासन सभी रोगों की दवा है। मेरा पेट दर्द क्या इससे ठीक न होगा ? तकलीफ तो हुई, लेकिन जैसे-तैसे मैं सिर नीचे और पैर ऊपर करके टँग ही गया। अधिक देर शीर्षासन न कर सका। कर ही कैसे सकता था ? शीघ्र ही चारपाई पर लेटना पड़ा। तब देखा कि किसी भी करवट चैन से लेटना असम्भव है। पेट में हर तरफ सुइयाँ चुभने लगीं। अजब छटपटाहट थी। कुछ समझ में न आता था कि क्या करूँ। मंत्री जी चार बजे से पहले दफ़्तर से लौटने वाले न थे और अभी बजे थे दिन के बारह या एक। बंगलोर में और कोई मेरा परिचित न था। बेचारे विद्यार्थी मेरे

दुःख से दुखी हो सकते थे, लेकिन कुछ कर तो न सकते थे। किसी के दुश्मन को भी ऐसा पेट-दर्द न हो।

आखिर मुझे लेटे लेटे एक उपाय सूझा। मैंने सुन रक्खा था कि रामकृष्ण मिशन का एक आश्रम आर्य-समाज मन्दिर से बहुत दूर नहीं है। सोचा, वहाँ कोई न कोई स्वामी जी अवश्य रहते होंगे। एक विद्यार्थी से कागज और पेन्सिल मँगवा मैंने उस पर जैसे तैसे लिखाः—

स्वामी जी,

मैं, एक अपरिचित व्यक्ति, यहाँ आर्य-समाज मन्दिर में पेट के शूल से बुरी तरह पीड़ित हूँ। बड़ी ही कृपा हो, यदि आप पधार कर मेरी किसी तरह की—दवा दारू से—कुछ सहायता कर सकें।

आपका—

....

पत्र लिख कर विद्यार्थी के हाथ स्वामी जी के पास भेज दिया। आशा थी कि कोई न कोई अवश्य पधारेंगे। यों ही इधर से उधर तड़पते काफ़ी समय गुज़रा। कोई न आया। लौट कर विद्यार्थी ने कहा—

'पत्र दे आया।'

'और स्वामी जी?'

'वे नहीं आये।'

....

लेटा न जाता तो उठ कर बैठ जाता। बैठा न जाता तो फिर लेट जाता। इधर से पेट को पकड़ता तो दूसरी तरफ़ दर्द होता। दूसरी तरफ पकड़ता तो इधर। दर्द किसी तरह पकड़ में आता ही न था।

खैर। चार बजने थे, सो बजे। मंत्री जी दफ़्तर से लौटे। मेरी हालत देखते ही उन्होंने दवा-दारू के लिए दौड़ शुरू की। भाई राम-

चन्द्र जी को पता लगा, वे भी भागे आये। मेरी बीमारी का समाचार फैलने लगा। रात को कितने ही आदमी मुझे देखने पहुँचे। रामकृष्ण मिशन से एक स्वामी जी भी। मेरी बीमारी का पता तो उन्हें मेरे पत्र से ही लग गया था, लेकिन वह एक राह चलते 'अपरिचित व्यक्ति' का पत्र था। और इस समय वह देखने आये थे अपने मित्र श्री........ जी के रोगी अतिथि को।

रात भर दवाइयों का दौर दौरा चलता रहा। आध-आध घण्टे पर शौच की हाजत होती, लेकिन शौच न होता। दर्द बराबर जारी था। कुछ भी तो कमी नहीं होती थी। कैसे कैसे करके रात कटी!

दिन चढ़ते ही सभी हित चिन्तकों की सलाह से मैं अस्पताल पहुँचा दिया गया। डाक्टर की आज्ञा से तुरन्त एनीमा की व्यवस्था हुई। मुझे लगा, मानों कोई बड़ा ऑपरेशन होने जा रहा है। वस्ति-क्रिया से शूल कुछ कम हुआ सही; लेकिन गया नहीं। तीन-चार दिन दवाई पीते रहना पड़ा। अभी दो तीन दिन और अस्पताल में रहने की आवश्यकता थी। लेकिन क्या करता; कांग्रेस सिर पर आ गई थी: वह कांग्रेस जिसकी प्रतीक्षा में इतने दिनों से बँगलौर में पड़ा था। अभी मैं अच्छी तरह चल-फिर भी न सकता था। लेकिन कांग्रेस देखने की इच्छा ने बदन में कुछ जान डाल दी। मैंने डरते-डरते, नम्रता-पूर्वक डाक्टर से कहा—

'कल से कांग्रेस आरम्भ है। मैं किसी तरह आज की गाड़ी से जा सकता तो बहुत अच्छा होता।'

डाक्टर बोला—'जा सकते हो।'

मैंने फिर निवेदन किया—'आप जो-जो परहेज बताएँगे; मैं सब करूँगा। कृपया कहिए कि मुझे क्या खाना चाहिए और क्या नहीं।'

डाक्टर का उत्तर था—'कुछ भी खाओ। लेकिन खाओ भूख रख कर ही।'

× × ×

पाली साहित्य में एक कथा है:

भगवान् बुद्ध की धर्म-सभा में भिक्षु भी होते थे, गृहस्थ भी, धनी भी, निर्धन भी। तथागत की समदृष्टि में राजा रंक का कोई भेद न था।

एक दिन जिस समय तथागत बैठे हुए उपदेश दे रहे थे, उन्होंने देखा कि राजा प्रसेनजित् बैठा ऊँघ रहा है। भगवान समझ गये कि आवश्यकता से अधिक खाकर आया है। उसी समय यह गाथा कही।

चत्तारो पञ्च आलोपे अभुत्वा उदकं पिवेत्
अलं फासु विहाराय न किलिस्सेय्य पंडितो।

[चार पाँच ग्रास और खाने की जगह रख कर आदमी पानी पी ले। सुख से रहने के लिए यह काफी है। ऐसा करने से बुद्धिमान् आदमी को कष्ट नहीं होता।]

राजा ने सुना तो एक माणवक (विद्यार्थी) को बुला कर कहा—यह गाथा याद कर लो। जिस समय हम भोजन करने बैठें, इसे रोज सुनाओ। एक कार्षापण (अशरफी) प्रति दिन मिला करेगा।

माणवक ने वह गाथा याद कर ली और उसी की कृपा से वह हमें भी प्राप्त हुई है। लिखा है कि इस गाथा की मदद से राजा का भोजन सम्बन्धी असंयम दूर हो गया।

जो लोग जिह्वा के या स्वाद-इन्द्रिय के अधिक वशीभूत होते हैं, उनके मन में प्रायः कई मिथ्या-विश्वास घर किये रहते हैं।

माताएँ बचपन में बच्चों को अधिक से अधिक खिलाना चाहती हैं। वे सोचती हैं, जितना खायगा उतना ही मोटा-ताजा होगा। जब कभी बच्चा अधिक खाने से इन्कार करता है तो माताएँ प्रायः बड़े प्रेम से कहती हैं—थाली में बचा भात खा लो। नहीं तो व्यर्थ नष्ट होगा।

वे यह नहीं सोचतीं कि बच्चा अधिक खाने से मोटा-ताजा नहीं होता बल्कि अधिक हजम करने से। वे यह भी नहीं सोचतीं कि थाली में बचा हुआ भात न खाने से तो भात ही नष्ट होता है, लेकिन खा लेने से भात की हानि के साथ पेट की भी हानि होती है। यदि माताएँ

अपने मोह में इस बात को न समझें तो हम तो समझें।

लोग जब खाने बैठते हैं तो प्रायः यही देखते रहते हैं कि अभी और कितना खाया जा सकता है। अधिक न खाने का तो वे ख्याल रखते हैं, लेकिन कम भी नहीं खाना चाहते। ठीक जितना चाहिए उतना—न कम, न ज़्यादा—खाने की फिकर में वे हमेशा अधिक खा लेते हैं। भोजन की उचित मात्रा है निश्चयात्मक रूप से कम खाना।

कुछ लोग यह समझते हैं कि दुपहर को अधिक खाने का प्रायश्चित रात को कम खाकर हो सकता है। यह बिलकुल ग़लत है। रात को भी अधिक खा लेने की अपेक्षा तो यह अच्छा है कि रात को तो कम रहे। लेकिन सबसे अच्छा तो यही है कि न दुपहर को अधिक हो, न रात को।

तथागत का, राजा प्रसेनजित् को दिया गया उपदेश, सभी भोजन-गृहों में स्वर्णाक्षरों में लिखा रहे तो क्या अच्छा!



समाज

सर्दियों के से दिन थे, मुझे श्रद्धेय राहुल जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बुद्धचर्या' की पांडु-लिपि दुहराने का काम सौंपा था। किताब बड़ी थी और उसे चंद दिनों में ख़तम करना था। मैंने सोचा, यह काम कहीं ऐसी जगह बैठ कर ही हो सकता है, जहाँ मन के बहकने के साधन ज़रा कम हों। इसके लिए मैंने कुशीनगर चुना। शाम को गाड़ी से भाई प्रज्ञाकीर्त्ति और मैं बनारस से चलकर प्रातःकाल चार-पाँच बजे देवरिया पहुँचे और वहाँ से सूर्योदय होते होते मोटर-बस द्वारा कसया या कुशीनगर।

जिन्हें यह मालूम है कि बौद्ध-भिक्षु दोपहर बाद कुछ नहीं खाते, वे ही सुबह होते होते उनकी जल-पान करने की इच्छा को भले प्रकार समझ सकते हैं, एक दुकान पर गरम-गरम जलेबियाँ बन रही थीं। सोचा, आज जलेबियों का ही जलपान रहे, लेकिन जलपान करने बैठने से पहले कसया से माथाकंवर तक के लिए कोई सवारी ठीक कर लेना ज़रूरी था। एक तो हमारे पास किताबों का ख़ासा बंडल, दूसरे मेरे पाँवों में एक ज़ख़्म जिसके कारण थोड़ी दूर भी पैदल चल सकना असम्भव था। इक्के वाले से पूछा "माथा-कुंवर चलोगे?"

"क्यों नहीं?"

"क्या लोगे?"

"आठ आने!"

"चार आने लोगे?"

आठ आने और चार आने के बीच में रस्सा-कशी होती रही। इक्केवाला छ आने माँग रहा था, लेकिन हम चार आने से अधिक देने को तैयार न थे। हमने इक्केवाले से कहा—"भाई! तुम स्वतंत्र हो, मर्ज़ी हो, चार आने लो, मर्ज़ी हो न लो।" इक्कावाला चला गया।

हम बैठे बैठे गरम गरम जलेबियाँ उड़ाते रहे। ठीक याद नहीं, कितने की जलेबियाँ खाईं; चार आने की तो अवश्य ही खाई होगी, छ आने की भी हो सकती हैं। बीच बीच में इक्केवाला पूछने के लिए आता। हमारा उसे एक ही जवाब था—"भाई! तुम स्वतंत्र हो, मर्जी हो, चार आने लो, मर्जी हो न लो।"

हमारी जलेबियाँ ख़तम होते होते इक्केवाला आया—"अच्छा हुज़ूर! आपकी मर्ज़ी, चार आने ही दीजिये।" हमारा सामान और हम दोनों उस छोटे से इक्के पर लदे। इक्का 'खटखट' करता बढ़ा चला जा रहा था और हम चार या छ आने की जलेबियों से अपने दिमाग़ को तर किये अभी तक चार या छः आने किराये की बात सोच रहे थे। प्रश्न यह नहीं था कि इक्केवाले का हम से चार आने लेना ठीक था या छ आने! प्रश्न था कि क्या इक्केवाला वास्तव में चार आने लेने या न लेने के लिए स्वतंत्र था! हमने उसे बार बार कहा था—"भाई! तुम स्वतंत्र हो मर्ज़ी हो, चार आने लो, मर्ज़ी हो न लो।" क्या वह सचमुच स्वतंत्र था!

उसका अपना पेट था, जिसमें वह दिन में दो बार न सही, एक बार तो कुछ न कुछ डालने के लिए मजबूर था। उसकी अपनी स्त्री थी, जिसको बिना खिलाये वह खा न सकता था; उसके अपने बच्चे थे, जिनको वह भूखा न मार सकता था; उसका घोड़ा था, जिसके लिए चारा-घास आवश्यक था। एक तरफ़ यह और दूसरी तरफ़ कुशीनगर के यात्रियों की अधिकता न थी और जब अधिक यात्री एक साथ आते थे, मोटर लारियाँ सीधी माथाकुंवर चली जाती थीं। यदि कोई यात्री कुशीनगर में उतरता भी था, तो कौन केवल डेढ़ दो मील इक्के में चढ़ कर जाता। अब इक्केवाला यदि हमारे चार आने न लेता, तो वह क्या करता! हमने कहा था—वह चार आने लेने में स्वतंत्र है; लेकिन असलियत तो यह थी कि वह चार आने लेने पर मजबूर था। उसको तो चार आने लेने या भूखों मरने—इन दो चीज़ों में से एक को चुनना था। चार आने क्या, तीन आने, दो आने और एक आने पर भी वह

राज़ी हो सकता था। हमने उसे बार बार कहा था—भाई! तुम स्वतंत्र हो, चाहो चार आने लो, चाहो न लो।

× × ×

बात छोटी सी है और कई वर्षों की पुरानी, तो भी मेरे मन पर ज्यों की त्यों अंकित है। ज़मींदार अपने किसान से कहता है, "तुम स्वतंत्र हो, चाहो तो इतनी मालगुज़ारी देकर खेत जोतो, चाहो छोड़ दो।" मिल-मालिक मज़दूर से कहता है—"तुम स्वतंत्र हो चाहो तो इतनी मज़दूरी लेकर काम करो, चाहो न करो।" ठिठरती रात में स्टेशन पर कुली से बाबू कहता है—"तुम स्वतंत्र हो, चाहो दो पैसे लो और गठरी उठाओ चाहो न उठाओ।" मरते हुए रोगी के रिश्तेदार से डाक्टर कहता है—"तुम स्वतंत्र हो, मर्ज़ी हो, हमारी निश्चित फ़ीस देकर हमें घर ले चलो, मर्ज़ी हो न ले चलो।" और तो और किसी समाचार पत्र का पूँजीवादी मालिक भी अपने पत्र-सम्पादक से कहता है—"तुम स्वतंत्र हो, चाहो इतने वेतन पर काम करो, चाहो न करो।"

यह है पूंजीवादी समाज की "स्वतंत्रता", जिस पर हमें इतना अभिमान है।

(२)

कुशीनगर में रहते कुछ दिन हो गये थे। इत्तफ़ाक से वहीं उन दिनों स्काउटों का सहयोग-समिति वालों का एक ट्रेनिङ्ग कैंप था। कमिश्नरी भर के स्काउट इकट्ठे थे। शारीरिक व्यायामों के अभ्यास के अतिरिक्त मानसिक शिक्षा का भी प्रबन्ध था। किसी दिन सहयोग समितियों के रजिस्ट्रार सहयोग के सिद्धान्त और व्यवहार पर व्याख्यान देते, किसी दिन स्वास्थ्य-विभाग के कोई बड़े कर्मचारी स्वास्थ्य के नियमों पर। एक दिन कृषि-विभाग के किसी बड़े अध्यक्ष का भाषण था। मैं भी सुनने गया। व्याख्यान दाता ने बताया कि किसानों को इस प्रकार बीज पृथक रखना चाहिये, इस प्रकार गड्ढे खोदने चाहियें, इस तरह की विशेष खाद डालनी चाहिये, इस तरह का हल उप-

योग में लाना चाहिये आदि। शाम को मैं अपने स्थान पर मंदिर में बैठा था, सुबह के व्याख्यान दाता भिक्षु से मिलने चले आये। बात-चीत में मैंने कहा—"आज्ञा हो, तो एक प्रश्न पूछूँ।" बोले—"कहिये" मैंने पूछा—"यदि आपके पास उतनी ही ज़मीन हो, जितनी हमारे साधारण किसान के पास होती है, आपका वैसा ही छोटा सा घर हो, जैसा हमारे साधारण किसान का होता है, आपको उतने ही बड़े परिवार का पालन करना हो, जितने बड़े परिवार का पालन, हमारे साधारण किसान को करना होता है, आपको उतनी ही मालगुज़ारी देनी पड़े, जितनी मालगुजारी हमारे साधारण किसान को देनी पड़ती है, आपके सिर पर उतना ही कर्ज़ा हो, जितना हमारे साधारण किसान के सिर पर होता है, तो आप सच सच बतायें कि क्या आप अपने दिल में विश्वास करते हैं कि कृषि-शास्त्र के इस सारे विशिष्ट ज्ञान को लेकर भी आप हमारे साधारण किसान से अच्छी खेती कर सकेंगे?" वे बोले—"लेकिन मुझे तो अपने बाल-बच्चों को शिक्षा देनी ही है, उतनी थोड़ी आमदनी में मेरा काम कैसे चलेगा?" मैंने कहा—"तो क्या किसान के बच्चों को शिक्षा की ज़रूरत नहीं है?" वह चुप रहे। मेरा आग्रह था कि यदि आपको विश्वास है कि हमारा किसान कृषि-शास्त्र के उन्नत उपायों की जानकारी न रखने के कारण ही दरिद्र हैं—दुःखी हैं, तो इसका सब से अच्छा उपाय यह है कि आप स्वेच्छा-पूर्वक अपने आपको एक साधारण किसान की परिस्थिति में रख कर अपने कृषि-शास्त्र विषयक उन्नत उपायों के ज्ञान के आधार पर साधारण किसान की अपेक्षा अधिक समृद्ध होकर दिखायें। मुझे याद नहीं कि उन्होंने इसका ठीक ठीक क्या उत्तर दिया, लेकिन शायद कुछ ऐसा कहा था कि इस किताबी ज्ञान का विशेष उपयोग तो नियमित मासिक वेतन मिलना ही है।

उस दिन मैंने कुछ इसी प्रकार का प्रश्न गोरखपुर के सरकारी कृषि-विद्यालय के विद्यार्थियों और उनके प्रिंसिपल से भी किया था। मैंने पूछा था, "जितने रुपये आप विद्यार्थी कृषि के उन्नत उपायों को सीखने में मासिक खर्च करते हैं, क्या आपका विश्वास है कि आप

शिक्षा-समाप्ति के बाद उस उन्नत ज्ञान की मदद से उससे आधे रुपये भी कमा सकेंगे !" अनेक विद्यार्थी बग़लें झाँकने लग गये।

ऐसे हैं, पूँजीवादी समाज के "सुधार," जिन पर हम को इतना अभिमान है।

(३)

सन् १९३० में राहुल जी और मैं लङ्का में थे। एक दिन मैं कमरे में कुछ लिख रहा था। राहुल जी आकर दरवाज़े पर खड़े हो गये। बोले—"अब भारत चलना होगा, वहाँ पुलिस की लाठियों से लोगों के सिर फूट रहे हैं, और हम लोग यहाँ कलम-घिसाई कर रहे हैं। इस बार की यह लड़ाई बहुत गहरी लड़ाई है। समिधाओं के अभाव में यज्ञ की आग न बुझनी चाहिये।" मैंने कहा—"जल्दी निश्चय न करें, शाम को इस पर विचार हो।" संध्याकाल की सैर के समय हम दोनों की कानफरेन्स हुई और निश्चय हुआ कि पहले मैं भारत जाऊँ और पीछे यदि लिखूँ, तो राहुल जी जाँय।

एक सप्ताह के भीतर मैं पटने जा पहुँचा और वहाँ से भाई बलदेव नारायण के पास सीधा मगन-आश्रम (लहेरियासराय) गया। राहुल जी की इच्छा थी कि मैं बिहार में जाकर कुछ काम करूँ। बिहार से राहुल जी का ऐसा ही विशेष स्नेह है। दरभङ्गा ज़िले की मुश्किल से दो चार मीटिङ्गों में सम्मिलित हुआ होऊँगा कि पुलिस की नज़र चढ़ गया। भाई बलदेव नारायण, मैं और हमारे साथ दो अन्य मित्रों के नाम वारंट कटा, लेकिन हम पकड़े गये थे बिना वारंट के ही। मुकद्दमा उतना ही झूठा था, जितने झूठे उन दिनों के राजनैतिक मुकद्दमे प्रायः होते थे। चार दिन नज़रबन्द रख कर मुझे और मेरे साथियों को छोड़ दिया। छूटने का कारण न्यायाधीश की न्यायप्रियता ही रही हो, ऐसी बात नहीं थी, उन्हीं दिनों बर्मा के भिक्षु विजय जेल में अनशन करके प्राण त्याग कर चुके थे। असेम्बली में उनके बारे में प्रश्न हो रहे थे। कदाचित दरभंगा के न्यायाधीश ने भिक्षु विजय के सहधर्मी एक भिक्षु को अपने यहाँ क़ैद करना उचित न समझा हो, लेकिन हो सकता है

कि न्यायाधीश की न्यायप्रियता ही हमारी मुक्ति का कारण बनी हो। अस्तु।

वे दिन चौकीदारी-टैक्स के न देने के थे। बिहार में, न जाने, कितने गरीबों ने अपना सर्वस्व कुर्क कराया। अमीर-कांग्रेसी नेताओं ने जहाँ कहीं चौकीदारी टैक्स देने से इन्कार किया, उनकी कोई एक छोटी मोटी चीज़ कुर्क होकर छुट्टी हो गई, लेकिन जिस ग़रीब आदमी ने चौकीदारी टैक्स न दिया, उसकी कुर्की का मतलब हुआ उसका सर्वस्व अपहरण!

चौकीदारी टैक्स न देने के कारण जब बिहार के जन साधारण अनगणित कष्ट उठा चुके थे और उठा रहे थे, उस समय आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यकता थी कि हमारे कांग्रेसी नेता सरकार पर नया आक्रमण करते और वह आक्रमण शायद यही हो सकता था कि मालगुज़ारी देने से इन्कार किया जाता, लेकिन उस तरह का कदम उठाने से तो कुछ विशिष्ट लोगों पर विशेष आपत्तियाँ आ सकती थीं। हम साधारण कार्यकर्त्ताओं को आज्ञा मिली कि सरकारी अत्याचार का जवाब कांग्रेस के रजिस्टरों में मेम्बरों की संख्या बढ़ा कर दिया जाय। बार बार कहा गया कि जनता आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं है, जब कि सचाई यह थी कि हमारे कुछ नेता जनता का अनुकरण करने तक का साहस न रखते थे।

१९३० को आज सात साल हो गये, उन दिनों मैं जो बिहार के गावों में घूमा, वहाँ के साधारण कार्यकर्त्ताओं के सम्पर्क में आया, उसका एक गहरा संस्कार अभी तक मन पर जमा है। हमें सन् ३० का जो आंदोलन रोक देना पड़ा, वह जनता के ढीलेपन के कारण नहीं, बल्कि कुछ नेताओं में स्वार्थ-त्याग कर सकने की कमी के कारण ही।

जनता का यदि कोई दोष था तो इतना ही कि वह ऐसे नेताओं को एक ओर हटा कर दूसरे साहसी नेता न पैदा कर सकी।

यह है, हमारे पूँजीवादी-समाज के "स्वातंत्र्य-संग्राम" का एक दृश्य, जिस पर हमें इतना अभिमान है।

अप जयतिलक महात्मया*

'स्टेट्समैन' के एक कोने में ढाई पंक्तियों में एक समाचार छपा कि 'सर डी बी० जयतिलक पास्ड अवे।' उसी का अनुवाद हमारे अनेक भारतीय पत्रों में भी उन्हीं ढाई पंक्तियों में छप गया कि 'सर डी० बी० जयतिलक चल बसे।' हम न जान पाये, न समझने का ही प्रयत्न किया कि सर डी० बी० जयतिलक को गँवाकर सिंहल ने ही नहीं, भारत ने भी क्या गँवाया। क्या करें, हमको जो कुछ दूसरे सुझा दें, बस वहीं तक तो है हमारी गति!

❀ ❀ ❀

कोलम्बो से कोई पाँच छः मील की ही दूरी पर एक जगह है कैलानिया (कल्याणी)—सिंहलवासियों के विश्वासानुसार वह भगवान् बुद्ध के चरण चिह्नों के पवित्र हो चुकी है—वहीं १८६८ में डोनबारोन जयतिलक नामक लड़के का जन्म हुआ। लङ्का के दो बड़े विद्यालयों में एक है विद्यालङ्कार-परिवेण। बालक प्रतिभाशाली तो था ही, साथ ही भाग्यवान् था। विद्यालङ्कार-परिवेण के आचार्य, अपने समय के असाधारण पण्डित महास्थविर धर्माराम जी की कृपा-दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने बालक के पिता को उसे ऊँची से ऊँची शिक्षा दिलाने की प्रेरणा की। तदनुसार बालक की सिंहल, पाली तथा संस्कृत आदि की शिक्षा परिवेण (बौद्ध विहार) में और अंग्रेजी की एक ईसाई कालेज में होने लगी। बड़े होने पर, ख्याति प्राप्त होने पर विद्यालङ्कार-परिवेण से मिली शिक्षा को जयतिलक ने सदा अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया। एक अवसर पर उन्होंने कहा—'मैं जब वैसली कालेज में पढ़ता था तो वहाँ मुझे मेरे अध्यापक ने बताया कि संसार में ईसा-मसीह के

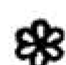
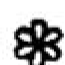
*सर डी० बी० जयतिलक को सिंहलवासी इसी प्रकार प्रेमपूर्वक याद करते हैं; शब्दार्थ है 'हमारे ज्येष्ठ जयतिलक'।

आने के बाद ही अस्पताल बने हैं। मैंने विद्यार्थी अवस्था में भी अध्यापक का प्रतिवाद कर दिया और कहा कि ईसा के पैदा होने से सौ वर्ष पूर्व लङ्का में अस्पताल थे। अपने प्रधानाचार्य को भी उस समय मैं जो यह उत्तर दे सका, उसका कारण यही था कि मुझे अपने परिवेण में शिक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त था।'

सिंहल की शिक्षा समाप्त कर वे भारत आये और सन् १८८५ में कुल १७ वर्ष की उम्र में उन्होंने कलकत्ता से बी० ए० पास किया। भारत से लौटने पर उन्होंने कैण्डी के आज के प्रसिद्ध बौद्ध विद्यालय—धर्मराजिक विद्यालय—का आचार्यत्व ग्रहण किया। उनके उस समय के जीवन की झाँकी उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

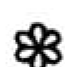
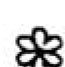
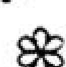
'मैं जिस समय उस विद्यालय का प्रधानाचार्य बनाया गया था, मुझे अच्छी तरह याद है कि विद्यालय की अवस्था एक छोटी पाठशाला जैसी थी। विद्यार्थियों की संख्या ८० रही होगी, किन्तु सभी ऐसे जो आयु अधिक होने के कारण दूसरी शालाओं में दाखिल नहीं हो सकते थे। मुझे शामिल करके कुल तीन अध्यापक थे। वेतन उन्हें मिलता था पाँच रुपया मासिक। मुझे जो पाँच रुपया मिलता था, उसमें से दो रुपया मैं वापिस दे देता था और मज़ा यह था कि शेष तीन रुपये में मुझे फिर शाम को भी पढ़ाना पड़ता था।'

तीन हजार रुपये से भी अधिक मासिक वेतन पाने वाले सर जयतिलक कभी तीन ही रुपया मासिक पाते थे।

कुछ वर्ष कैण्डी रहने के बाद वे कोलम्बो चले आये। यहाँ उन्होंने तरुण बौद्ध समिति अथवा वाई० एम० सी० ए० के ढङ्ग पर वाई० एम० बी० ए० (यङ्गमैन बुद्धिस्ट असोसियेशन) की बुनियाद डाली। वाई० एम० बी० ए० लङ्का की बहुत प्रभावशाली संस्था है और बौद्धों की लगभग हर प्रकार की उन्नति पर इसकी नज़र है। उस दिन जब किसी ने सर डी० बी० जयतिलक से कहा कि आप तो ज्यों-ज्यों वर्ष

बीतते हैं त्यों-त्यों तरुण से तरुणतर होते जाते हैं, तब वे बोले—मैं चौआलीस वर्ष से तरुण बौद्ध समिति का सभापति जो हूँ।

लगभग बारह वर्ष तक सिंहल के सार्वजनिक जीवन में कई तरह से भाग लेते रह कर १६१२ में वे इङ्गलैण्ड गये और वहाँ आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० पास किया। १६१२ में लङ्का में बड़ा उपद्रव हुआ था। उस समय वे नज़रबन्द रहे। १६१६ में लङ्का कांग्रेस की जिन लोगों ने स्थापना की उनमें वे मुख्य थे। १६२३ में तो वे उसके सभापति ही थे। १६२३ में ही सिंहल देश को मिलने वाले राजनीतिक सुधारों के सिलसिले में वे इङ्गलैण्ड गये। १६२४ से १६३१ तक सिंहल की व्यवस्थापिका सभा के सभासद और बाद में सभापति रहे; १६३१ में वहाँ के मन्त्रिमण्डल में स्वदेशामात्य, १६३६ में फिर दुबारा स्वदेशामात्य। १६४२ से लङ्का के भारत-स्थित प्रतिनिधि और १६४४ में भारत से लङ्का लौटते समय रास्ते में ही स्वर्गवासी हो गये—दोनों देशों को मैत्री के बन्धन में बाँध रखने वाली कड़ी के रूप में।

अनागारिक धर्मपाल के बाद सब से अधिक ख्याति लङ्का में सर डी० बी० जयतिलक ने ही प्राप्त की। पाण्डित्य में तो वे और बढ़ कर थे। उनकी एक विशेषता यह थी कि वह सरकारी और ग़ैर सरकारी मित्रों में समान रूप से आद्दत थे। सिंहल में शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण कार्य ऐसा हो जिससे सर डी० बी० जयतिलक सम्बन्धित न हों। सिंहल में शिक्षा प्रसार का जितना कार्य था वह ईसाइयों के हाथ में चला गया था। बौद्धों ने उसे अपने हाथ में लेने का सफल प्रयत्न किया। उस आन्दोलन के नेता सर डी० बी० जयतिलक ही थे। बौद्ध होने के बावजूद पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से सिंहल में शराब पीने की आदत ज़ोर पकड़ गई थी। उसके विरुद्ध जो ज़ोरदार आन्दोलन हुआ, उसके नेता भी थे सर डी० बी० जयतिलक। सिंहल भाषा का एक असाधारण बड़ा कोष छप रहा है, उसकी कमेटी के सभापति भी वही रहे।

१९०६ में डी० बी० जयतिलक का जिन देवी के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित हुआ, उनके पिता पण्डित बटुवंतुडावे स्वयं अपने समय के एक बड़े पंडित थे। श्रीमती जयतिलक के जैसे पिता थे वैसे ही पति मिले। एक शताब्दी के चौथे हिस्से तक उनका पारिवारिक जीवन सुख से बीता। १९२६ में श्रीमती जयतिलक का स्वर्गवास हो गया। जयतिलक महात्मा ने फिर पाणिग्रहण नहीं किया, यद्यपि तब तक भी वे किसी पुत्ररत्न के पिता नहीं थे। सर डी० बी० जयतिलक ने अपने अत्यधिक कार्य-व्यस्त जीवन में भी बहुत साहित्यिक कार्य किया है। आप पाली और संस्कृत अच्छी तरह पढ़ते थे तथा सिंहल और अंग्रेज़ी में समान रूप से लिखते थे। आपके लेखों, छपे भाषणों, लिखे तथा सम्पादित ग्रन्थों को यदि एक एक पृष्ठ करके खोल कर फैला दिया जाय तो इसमें तनिक अतिशयोक्ति नहीं कि वह लङ्का के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिछ जायेंगे।

१९३२ में जब इन पंक्तियों के लेखक को सिंहल की सरकार ने पासपोर्ट देने से इन्कार कर दिया, तब उन्होंने ही अपनी व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी पर सिंहल के गवर्नर से मिल कर पासपोर्ट दिलाया था। अनेक वर्षों बाद उस दिन दिल्ली में भेंट हुई तो मैंने दूसरी बातों के साथ सिंहल में हिन्दी प्रचार की चर्चा की। उन्होंने कहा—'मैं इसमें हर तरह से मदद करूँगा।'

काश, लङ्कावासी अपने सर डी० बी० जयतिलक महात्मा की इस अन्तिम दिनों की इच्छा का मूल्य समझें!

दिल्ली से वायुयान द्वारा कोलम्बो जाते समय रास्ते में बङ्गलोर में आपका शरीरान्त हो गया। मातृभूमि को जीते जी देखने की आपकी इच्छा पूरी न हुई। सिंहल में आपकी शव-यात्रा के साथ जो जलूस था, कहते हैं उसकी लम्बाई पाँच मील से अधिक थी। ऐसे ही थे सर डी० बी० जयतिलक जिन्होंने सिंहलवासियों के दिल को जीत रखा था।

उस दिन हमने भी यहाँ सारनाथ में उनका स्मृति-दिवस मनाया। महापुरुषों की याद भी बड़ी कल्याणकारी होती है।

जयपुर-सम्मेलन

निराश होना पड़ा : निराश नहीं होना पड़ा

सभी सम्मेलनों की तरह जयपुर सम्मेलन से भी कुछ लोगों की आशा पूरी हुई, कुछ को निराश होना पड़ा।

स्टेशन पर उतरते ही जिनका ख्याल था कि स्वयंसेवक उन्हें व्यवस्थित ढङ्ग से उनके निवास्थानों पर पहुँचा देंगे और उन्हें गाड़ी भाड़े की चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी उन्हें 'निराश होना पड़ा' किन्तु जो चाहते थे कि स्वागत समिति पर किसी प्रकार का भार न डाला जाय और वे अपना अपना गाड़ी-भाड़ा स्वयं चुका दें, उन्हें 'निराश नहीं होना पड़ा।'

निवासस्थान पर पहुँचते ही जो लोग समझते थे कि वह किसी एक स्थान पर ठहर कर रास्ते की थकावट उतार सकेंगे उन्हें 'निराश होना पड़ा', किन्तु जो स्वयंसेवकों की आशा पर अथवा निजी उद्योग से ही एक जगह से दूसरी जगह स्थानान्तरित होने के लिए तैयार थे उन्हें 'निराश हीं होना पड़ा'।

जिनका ख्याल था कि जयपुर नरेश की नगरी में उन्हें किसी चीज़ की कमी न रहेगी उन्हें 'निराश होना पड़ा', किन्तु जो भाई समझते थे कि भारत व्यापी महंगाई का असर जयपुर में भी होगा ही और खाने पीने की किल्लत भी रहेगी ही उन्हें 'निराश नहीं होना पड़ा'। स्वागत समिति यदि प्रतिनिधियों से भोजन-व्यय के नाम पर कुछ रुपये ले लेती तो सम्भव है अधिक सुन्दर व्यवस्था हो सकती, लेकिन स्वागत-समिति ने सोचा कि प्रतिनिधि-गण जब पैसे देकर भोजन करेंगे तो उनका आलोचना करने का अधिकार भी उसी मात्रा में बढ़ जायगा। किसी की ज़बान पकड़ना भी आसान नहीं। ऐसे भी प्रतिनिधि थे जो प्रतिनिधि-शुल्क के तीन रुपयों को 'बोर्डिङ्ग-लाजिंग' के ही खाते लिख

रहे थे। वे यह तक भूल गये थे कि प्रतिनिधि-शुल्क के रुपये सम्मेलन के होते हैं, स्वागत समिति के नहीं।

जिन्हें भरोसा था कि जयपुर में सम्मेलन के अध्यक्ष का जलूस बड़े ही शाही ठाट बाट से निकलेगा उन्हें 'निराश होना पड़ा' लेकिन जो चाहते थे कि वे जलूस के भीड़-भड़क्के में धक्के न खायें उन्हें 'निराश नहीं होना पड़ा।'

जो समझते थे कि सम्मेलन का एक बड़ा भारी पण्डाल होगा, जिसमें दिन भर सम्मेलन का उत्सव होगा, उन्हें 'निराश होना पड़ा' लेकिन जो समझते थे कि हरद्वार सम्मेलन की तरह ही केवल रात में सम्मेलन का प्रोग्राम रख कर यहाँ भी पण्डाल बनाने के झंझट और खर्चे से छुट्टी पा ली जायगी उन्हें 'निराश नहीं होना पड़ा'।

अन्तिम दिन रात के तीन बजे सम्मेलन समाप्त हुआ और उसके बाद कवि-सम्मेलन जारी रहा प्रातःकाल सात बजे तक। अब से प्रतिनिधि-गण को सम्मेलन के लिए प्रस्थान करने से पूर्व रात्रि जागरण का थोड़ा अभ्यास अनिवार्य होगा।

जो सोचते थे उन्हें हरिद्वार सम्मेलन की तरह अध्यक्षों के भाषणों के नाम पर छोटी-छोटी पुस्तिकायें पढ़ने को मिलेंगी, उन्हें 'निराश होना पड़ा', किन्तु जो समझते थे कि पेपर बचत आर्डर का कुछ न कुछ असर सभापतियों के भाषणों पर भी अवश्य पड़ेगा, उन्हें 'निराश नहीं होना पड़ा।'

जिन्हें आशा थी कि इस बार हम चुनाव चर्चा में कम से कम समय लगाकर शेष समय में कोई ठोस साहित्यिक योजना तैयार कर सकेंगे और देश के भिन्न भिन्न कोनों में हिन्दी की सेवा करने वाले कार्यकर्ता एक दूसरे के घनिष्ट सम्पर्क में अवश्य आ सकेंगे उन्हें 'निराश होना पड़ा', लेकिन जिन का ख्याल था कि चुनाव चर्चा के नाम पर हम अपनी अपनी पार्टी की शक्ति की परीक्षा करेंगे अथवा चुनाव दङ्गल में भाग लेने वालों का तमाशा देख सकेंगे उन्हें 'निराश नहीं होना पड़ा।'

जिनका विचार था कि सम्मेलन के अवसर पर होने वाली परिषदों में कुछ भी उपस्थिति नहीं रहती और इस लिए उनका होना ही निरर्थक है उन्हें 'निराश होना पड़ा', किन्तु जिनका ख्याल था कि परिषदें भी छोटे सम्मेलन हो सकती हैं और उनमें भी हज़ारों की उपस्थिति रह सकती है उन्हें 'निराश नहीं होना पड़ा' जयपुर सम्मेलन में जयपुर के बाहर के लोगों की संख्या स्थानीय लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक रही।

जो समझते थे कि जयपुर में उर्दू हिन्दी के झगड़े का फ़ैसला हो जायगा और हिन्दी पर लगे हुए प्रतिबन्ध हट जायेंगे उन्हें 'निराश होना पड़ा', क्योंकि देखा गया कि जयपुर में उर्दू हिन्दी की उतनी शत्रु नहीं जितनी अंग्रेजी दोनों की; किन्तु जो समझते थे कि जयपुर पहुँचने से उन्हें वहाँ की भाषा सम्बन्धित स्थिति स्पष्ट हो जायगी उन्हें 'निराश नहीं होना पड़ा।'

जिनका ख्याल था कि जयपुर नरेश सम्मेलन में अवश्य पधारेंगे और उनकी तथा अन्य लक्ष्मीपतियों की कृपा से सम्मेलन के कोष में एक बड़ी निधि पहुँच जायगी उन्हें 'निराश होना पड़ा' किन्तु जो लोग सोचते थे कि सम्मेलन के अध्यक्ष गोस्वामी गणेशदत्त जी जयपुर वेदिका से देश भर के लोगों के सामने अपना हाथ पसारेंगे उन्हें 'निराश होना नहीं पड़ा।' देखना है देश उनकी सात लाख की अपील की पूर्ति में कितनी देर लगाता है।

कुछ लोगों का यह भी ख्याल था कि जयपुर में पीने के पानी की किल्लत रहेगी। वैसा नहीं हुआ। स्वयं सेवकों की सुव्यवस्था के कारण किसी को भी पानी के गिलास के लिए 'निराश नहीं होना पड़ा।'



सर्व धर्म-सम्मेलन

अब वह युग तो नहीं रहा जब किसी न किसी बहाने से अपने इंगलैंड हो आने की चर्चा करने से आदमी कुछ 'बड़ा' बन जाता था; इस लिए अब तो निस्संकोच अपने एक आठ वर्ष पुराने संस्मरण की चर्चा की जा सकती है।

१६३३ में मैं बौद्ध धर्म प्रचार के उद्देश्य से इङ्गलैण्ड में था। एक दिन एक पत्र आया—एक निमंत्रण पत्र; जिसमें लिखा था कि सभी मज़हबों पर चारों ओर से प्रहार होने के कारण सभी मज़हबों का एक सम्मिलित मोर्चा बनाने की नितान्त आवश्यकता है। ···स्थान······ समय भिन्न भिन्न धर्मों के प्रतिनिधि इकट्ठे होंगे। आप भी पहुँचें। मेरी कठिनाई यह है कि मैं तब तक और आज भी यह फ़ैसला ही नहीं कर सका कि बौद्ध धर्म के प्रतिनिधि की हैसियत से मुझे धर्म का पक्ष लेने वालों के साथ सम्मिलित मोर्चा बनाना चाहिए वा धर्म का विरोध करने वालों के साथ ? उस सभा में जाकर धर्म-सङ्कट में न पड़ना ही मुनासिब समझा; और न गया ही।

अगले दिन एक परिचित मित्र डा० हरिप्रसाद शास्त्री का उलाहना आया कि मैं क्यों नहीं पहुँचा ! दूसरे दिन की बैठक में अवश्य अवश्य आने का आग्रह था। गया। वहाँ देखा तो एक बड़े मकान के एक बड़े कमरे में एक कुर्सी पर हिन्दू धर्म, एक पर इस्लाम, एक पर यहूदी धर्म, एक पर···मतलब सभी धर्मों के प्रतिनिधि भिन्न भिन्न कुर्सियों पर विराजमान हैं। मुझे भी एक कुर्सी मिली। सभा के आरम्भ में ही सभापति ने मुझे एक लम्बा सा काग़ज़ पढ़ने के लिए दिया, और कहा कि यह कल की मीटिंग के निश्चय हैं। आप इन्हें पढ़ लें। यदि आप को किसी बात पर आपत्ति न हो तो आज का कार्य आरम्भ किया जाए। पढ़ा और 'धन्यवाद' कहकर लौटा दिया। सभापति ने पूछा—

आपको सब स्वीकृत हैं? उत्तर दिया—'पढ़ लिए हैं। सभा की कार्रवाई आरम्भ हो।'

सभापति को खटका—दाल में अवश्य कुछ काला है। बड़े आग्रह से बोले—कहिए न? हम सब आपका मत सुनना चाहते हैं। उत्तर दिया—मुझे पहला ही प्रस्ताव—वह भगवान् (God) के बारे में था—स्वीकार नहीं और जिन दूसरे प्रस्तावों में उसका कुछ भी भाव है, वे भी अस्वीकृत हैं। सभा में एक बम का गोला सा पड़ गया। इस्लाम धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले भाई तो ठेठ उर्दू में उबल पड़े—

"या अल्ला! यह भी कोई मज़हब है, जिसमें खुदा को ही जगह नहीं।"

वे शायद सभा से उठकर ही चले गए। मेरे बारे में सभी को ऐसा लगा कि यह आदमी 'दाल भात में मूसलचन्द' कहाँ से आ मरा? मुझे भी जान पड़ा कि 'अस्थाने' आ फँसा हूँ। लेकिन आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि पहले ही जानता था कि कहाँ जा रहा हूँ। वह सभा मुझे साथ लेकर एक क़दम भी आगे न चल सकती थी; छोड़ कर कितने क़दम चल सकी···नहीं कह सकता?

× × ×

भारत में जब से हूँ प्रायः हरसाल कहीं न कहीं से एकाध 'सर्व-धर्म-सम्मेलन' का निमन्त्रण आ ही जाता है। आर्य्य समाज के एक गुरुकुल से दो तीन वर्ष बराबर आया। लिख दिया कि गुरुकुल से मुझे प्रेम है, और मैं अवसर मिलने पर गुरुकुल आऊँगा; लेकिन इस बात का ख़ास ख्याल रक्खूँगा कि कहीं 'सर्व धर्म-सम्मेलन' के अवसर पर न पहुँच जाऊँ। हिन्दी भाषाभाषियों में बौद्ध धर्म की चर्चा करने वाले 'ठाडं टोटरू' हैं इसी से शायद ईशानित्र सर्व धर्म-सम्मेलनों के लिए कुछ ख़ास आदमी हो गए हैं।

दो तीन वर्ष हुए रामकृष्ण मिशन की ओर से कलकत्ते में बड़ा भारी सर्व धर्म-सम्मेलन हुआ था। महाबोधी सोसाइटी के प्रधान मन्त्री

श्री० देवप्रिय जी कलकत्ते में रहते हैं, उन्होंने मेरा नाम दे दिया और कुछ ऐसा हुआ कि मुझे इस बात की सूचना सम्मेलन के ठीक एक दिन पहले उस समय मिली, जब कलकत्ते से तार आया। देवप्रिय जी नाम दे चुके थे। मैं बँधा चला गया। वहाँ मालूम हुआ कि अनागारिक गोविन्द (जर्मन देशीय) आने वाले थे, वे नहीं आ रहे हैं। सो उनकी ओर से भी मुझे ही बोलना होगा। एक न शुद दो शुद।

श्रीदेवप्रिय जी के साथ हाल में गया। सब रङ्ग ढङ्ग चकाचौंध करने वाले थे। टिकट खरीदकर जो आदमी शायद अंतिम पंक्ति में भी स्थान न पा सकता; उसे मंच पर जगह मिली। शानदार मेज़ के पास बिछी हुई शानदार कुर्सी नित्य नए सभापति के लिए थी। अनेक गद्‌दार लम्बी कुर्सियाँ—जिन पर बैठना और परसना एक साथ हो सके—उस नाटक के मेरे जैसे पात्रों के लिए थी। आखिर नाटक की सफलता इन पात्रों के अपना अपना पार्ट अदा करने पर ही तो निर्भर थी—इस लिए उनका इतना सम्मान अधिक नहीं कहला सकता।

श्रोताओं से हाल ठसाठस भरा था। वैसा तो नहीं जैसा किसी मज़दूर सभा या किसान सभा में होता है, लेकिन वैसा, जैसा किसी इज़्ज़तदारों की सभा में होता है। व्याख्यान शुरू हुए। शायद पहले से ही शुरू थे। मञ्च पर बैठे हुए लोग तो कदाचित् ही किसी व्याख्यान को ध्यान से सुनते; क्योंकि वे तो प्रायः सभी स्वयं व्याख्यानदाता थे; या व्याख्यान दे सकते थे। श्रोताओं के बारे में कुछ कहना कठिन है। लेकिन उनके चेहरे देखने से मालूम होता था कि वे व्याख्यान कम सुनते हैं—आँखें फाड़-फाड़ कर ज़्यादा देखते हैं। आख़िर करते भी क्या ? प्रत्येक पाँच सात मिनट के बाद एक नया व्याख्यानदाता मञ्च पर आता—जिसका भेष अलग, जिसकी भाषा अलग जिसका रङ्ग-ढङ्ग अलग; जिसका विषय अलग ! रामकृष्ण मिशन के कोई कोई सन्यासी अपने रेशमी ठाट में खास तौर पर सजते थे। ईजानिब भी कुछ लाल-पीली सी चादर* ओढ़े कुछ कम नहीं सजते होंगे।

*बौद्ध भिक्षुक का वस्त्र।

पहले दिन सभापति तो न जाने कौन थे; लेकिन असली सभापति थे—प्रो० विनयकुमार सरकार। वह मुझे एक ओर ले गए। हाथ मिलाया; फिर पूछा—आप कितनी देर बोलेंगे! तब तक कुछ देख लिया था कि यह सर्व धर्म-सम्मेलन एक महान् सम्मेलन है क्योंकि इसमें एक तो इतने अधिक व्याख्याता हैं कि यदि वे बारी बारी से मंच पर आएँ जाएँ तो भी काफ़ी समय चाहिए और दूसरे इसमें व्याख्याताओं के मञ्च पर आने जाने में अधिक समय खर्च हो रहा था और भाषणों में कम। इस लिए मैंने कहा "१५ मिनट!" प्रो० साहब बोले—"कम कीजिए!" मैंने कहा—"दस मिनट!" बोले—और कम कीजिए। सात मिनट कर दीजिए।

उत्तर दिया 'अच्छा'। इस स्वीकृति के दो कारण थे—एक तो समय की ऐसी बेजा पाबन्दी में मेरी कुछ कहने की इच्छा का गला घुट गया; दूसरे सोचा: व्यवहार में सात के दस हो जाया करते हैं। लेकिन जब व्याख्यान देने गया तब मालूम पड़ा कि ठीक सातवें मिनट पर टन से घंटी बजी; मैं अपना अधूरा वाक्य वहीं छोड़ दिया। समझ गया, यहाँ समय का अधिक मूल्य है।

दूसरे दिन श्रीमती सरोजनी देवी का व्याख्यान था। आप भारत की कोकिला हैं। उस दिन आपने अपने वंशी के स्वर में जो 'अल्ला हो अकबर वाहगुरु—आमीन' आदि के नारे लगाने शुरू किए तो १०, १५ मिनट तक वही लगते रहे—इस चालीस करोड़ लोगों के देश में कोई यह पूछने वाला न था, कि इस प्रकार हज़ारों आदमियों के समय को नष्ट करने का क्या अर्थ?

व्याख्यान के बाद ट्रैम में लौट रहा था तो किसी ने देवप्रिय जी की प्रशंसा करते हुए कहा आपने बुद्ध धर्म पर व्याख्यान बहुत अच्छा दिया। वह मेरी ओर इशारा करते हुए बोले—व्याख्यान तो मैंने नहीं दिया था, इन्होंने दिया था।

सर्व धर्म-सम्मेलन में व्याख्यान किस प्रकार दिए और सुने जाते थे—कुछ समझ में आया। × ×

और भी बीच बीच में मैं सर्व धर्म-सम्मेलनों में पकड़ा गया हूँ। अभी पिछले दिनों कानपुर के रामकृष्ण मिशन की पकड़ में आ गया था। निमंत्रण पत्र के बाद सांस्कृतिक बिरादरी (Cultural Fellowship) के सहायक मन्त्री श्री बैनर्जी ने स्वयं सारनाथ आने का कष्ट किया था। उनसे कहा—भाई, क्षमा करो। मुझे इन धर्मों की प्रदर्शनियों में विशेष श्रद्धा नहीं। उन्होंने कानपुर पहुँच कर फिर लिखा और एक दो पूर्व परिचितों से लिखवाया। मैंने स्वीकार कर लिया। पूंजीवाद की दुनिया में पग पग पर समझौता करना होता है। इस गर्मी के मौसम में आने जाने, रहने ठहरने, खाने पीने की तनिक असुविधा मुझे कानपुर में हुई ठीक उसी प्रकार जैसे मिल मज़दूरों के शहर में अनेक पूंजीपतियों तथा उनके समर्थकों को नहीं होती। व्यक्तिगत रूप से मैं प्रो० जयदेवजी, श्री० परिपूर्णानन्द जी तथा श्री बैनर्जी का विशेष कृतज्ञ हूँ। पहले दिन पहला व्याख्यान मुझे ही देना पड़ा।

सज्जनों! आज और कल आप जितने व्याख्यान सुनेंगे, उन्हें सुनकर आप सभी धर्मों के बारे में यही सोचेंगे—"खुदाया कैसी कैसी सूरतें तूने बनाई है, कि हर सूरत कलेजे से लगा लेने के क़ाबिल है!" लोगों ने तालियां बजायीं—सोचा सर्व धर्म-सम्मेलन का आरंभ इससे अच्छे वाक्य से नहीं हो सकता। लेकिन जब मैंने कहा—'सज्जनों! साथ ही जब आप उन हज़ारों मिथ्या विश्वासों का ख्याल करेंगे जो धर्म के नाम पर दिन रात जनता के गले उतारे जाते हैं, उस महान् शोषण का ख़याल करेंगे जो धर्म के नाम पर जनता का होता है, उन शोषकों की बड़ी पलटन का ख्याल करेंगे जो पन्डा, पुरोहित, मुल्ला, मौलवी, साधु संन्यासी और सब से पहले भिक्षुओं के रूप में विद्यमान हैं, खुदाया कैसी कैसी सूरतें... .. ...कि हर सूरत ठोकर से ठुकरा देने के क़ाबिल है।' उस समय लोगों ने समझा कि यहाँ तो हवा का रुख़ दूसरी ही ओर है। अपने जीवन के दस वर्ष मैंने बौद्ध धर्म के अध्ययन में लगाए हैं। उसके एक विनम्र विद्यार्थी की दृष्टि से जैसा मैंने उसे जाना समझा कह दिया।

दूसरे दिन जैन धर्म का प्रतिनिधि और सिक्ख धर्म का प्रतिनिधि कोई न था। श्री ऋषभचन्द जैन का छपा व्याख्यान आ जाने से जैन धर्म का प्रतिनिधित्व तो हो गया—सिक्खधर्म का बाक़ी रहा। मुझसे सिक्खधर्म का प्रतिनिधित्व कर देने की आशा की गई, जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। बौद्ध धर्म का प्रतिनिधि समझे जाने पर भी, सिख धर्म के बारे में उतनी जानकारी न रखने पर भी मैंने क्यों बोलना स्वीकार कर लिया? इसके दो कारण थे जिन्हें मैंने उस दिन सम्मेलन में भी व्यक्त कर दिया। लेखबद्ध होने से बात पक्की समझी जाती है इस लिए उन्हें यहाँ दोहरा रहा हूँ। सर्व धर्म-सम्मेलन का जो उद्देश्य है, उससे मेरी पूरी सहानुभूति है। कौन नहीं चाहेगा कि सभी धर्मों के अनुयाइयों में भातृभाव की स्थापना हो? लेकिन उसके लिए जो उपाय सोचा गया है, ग्रहण किया गया है, वह मेरी समझ में हमें अपने उद्देश्य की ओर ले जाने वाला नहीं। सभी शहरों की घास की मण्डियों में घसियारे एक जगह बैठ कर घास बेचते हैं, ग्राहक वहाँ पहुँच जाते हैं। तो क्या इतने से सभी घसियारों और ग्राहकों में परस्पर भ्रातृप्रेम स्थापित हो जाता है? यदि नहीं, तो सभी धर्मों के प्रतिनिधियों के एक जगह इकट्ठे होकर अपना अपना राग अलापने मात्र से और सभी श्रोताओं के एक हाल में बैठकर सुन लेने मात्र से क्या सब में परस्पर भ्रातृभाव स्थापित हो जाएगा? धर्मोपदेशकों की और घसियारों की तुलना करना कुछ जातिद्रोह समझा जायेगा; क्योंकि ईं जानिब भी तो आख़िर उसी थैली के चट्टे बट्टे हैं; लेकिन उसके लिये मुझे क्षमा माँगने की ज़रूरत नहीं। घास खोद कर पसीने की कमाई खाने वाले घसियारे का दर्जा पेशावर धर्मोपदेशक से कहीं ऊँचा है। तो मेरी समझ में सर्व धर्म-सम्मेलन का उद्देश्य, यदि हम उसे पूरा किया चाहते हैं तो दो उपायों से आगे बढ़ सकता है।

(१) हम धर्मों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन न करके धर्मों के जानकारों के सम्मेलन करें। हम अपने देश की जनता, विशेषकर बच्चों को यह शिक्षा दें कि न केवल वे धर्म जिनको वे "अपना" समझते हैं,

उनके "अपने" हैं, बल्कि सभी धर्म उनके "अपने" हैं। मनुष्य समाज को आज तक जो विचार सूझे और उन विचारों के फलस्वरूप जो अनुभव उसे प्राप्त हो उन सभी पर प्रत्येक बच्चे का जन्म-सिद्ध अधिकार है। यह भिन्न भिन्न धर्मों की दीवारें आख़िर क्यों? जब तक यह "अपने" और "पराए" धर्म का संस्कार नहीं जाता—धर्मों के अनुयाइयों में एकता असम्भव है।

दूसरी बात जो इससे कम ज़रूरी नहीं, वह यह कि हम "धार्मिक" और "दुनियावी" का भेद मिटा दें। बच्चों को चन्द्रग्रहण की बात पढ़ाई जाती है। "धार्मिक" किताब कहती है राहू ग्रस लेता है। "दुनियावी" किताब कहती है पृथ्वी की छाया पड़ जाती है। "धार्मिक" और "दुनियावी" किताबों के कथनों को तराज़ू के एक पलड़े में रखकर क्यों न तोला जाए? यदि "धार्मिक किताबों" में जो कुछ है, सब सत्य है तो "धार्मिक किताबों" के समर्थकों को तो इसमें कुछ आपत्ति होनी ही नहीं चाहिए। और 'दुनियावी किताबों' वालों को तो मेरा ख़्याल है बिल्कुल नहीं?

सांस्कृतिक बिरादरी (Cultural fellowship) की ओर से जो सम्मेलन बुलाया गया वा बुलाये जाते हैं, उनमें केवल धर्मों का ही प्रतिनिधित्व क्यों होता है—यह बात बहुत सोचने पर भी मैं नहीं समझ सका।



राहुलजी रूस को

दो घटनायें हैं। स्मृति पर ज़ोर डालने पर भी निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ कि कौन सी पहले घटी और कौन सी बाद में। एक लाहौर की है। दूसरी मेरठ की।

आर्य-समाज की पार्टियों में से एक कालेज पार्टी कहलाती है, दूसरी गुरुकुल पार्टी; एक मांस पार्टी दूसरी घास पार्टी। गुरुकुल पार्टी या घास पार्टी का साप्ताहिक सत्संग होता था—वच्छोवाली में। यह लाहौर का एक प्रसिद्ध मुहल्ला है। मैं कभी-कभी वहाँ व्याख्यान सुनने जाता। एक दिन देखा—आर्यसमाज की वेदी पर बन्द गले का कोट और उसमें तह किया हुआ दुपट्टा डाले किसी उपदेशक के बजाय एक साधु बैठा है जो शक्ल से आर्यसमाजी नहीं मालूम देता। कान उत्सुकतापूर्वक सुनने लगे—

"महाभारत के बाद भारत में दो ही ऋषि हुये हैं—एक बुद्ध, दूसरे दयानन्द। ऋषि युग-निर्माता होता है और लोग सामान्य सुधारक। ऋषि में प्रवाह को बदलने की सामर्थ्य होती है..."

बिना किसी भूमिका के साधु रामोदार ने अपना व्याख्यान आरम्भ किया। लाहौर में रहने से—आर्यसमाज के वायुमण्डल से दूर न रहने से स्वामी दयानन्द के लिये मेरे दिल में काफ़ी सम्मान पैदा हो चुका था। महात्मा बुद्ध को मैं एक 'महात्मा' समझता था—इससे अधिक कुछ नहीं। उस दिन सोचा—बुद्ध का भी व्यक्तित्व अवश्य कोई असाधारण व्यक्तित्व होगा, तभी तो इस साधु ने स्वामी दयानन्द के साथ उन्हें ऋषि कहा है।

लगभग छः-सात वर्ष के बाद जब राहुलजी के साथ मैं सिंहल में

था, तब मैंने वच्छोवाली समाज के उस व्याख्यान की याद दिलाकर पूछा—क्या अब भी आप बुद्ध और दयानन्द को उसी प्रकार ऋषि मानते हैं अथवा अब विचारों में कुछ अन्तर है? बोले—

"कहाँ युग प्रवर्तक बुद्ध, जिसने भारत को, वेद, ईश्वर, आत्मा की गुलामी से स्वतन्त्र किया और कहाँ दयानन्द, जो वेद, ईश्वर, आत्मा किसी की भी गुलामी से मुक्त न हो सका।"

उस समय तक राहुल जी साधु रामोदार ही थे।

सरलता और विद्वत्ता

दूसरी घटना मेरठ की है। मेरठ में अछूतोद्धार कमेटी, दिल्ली की ओर से एक कुमार-आश्रम था। अधिष्ठाता थे पंडित बलदेव चौबे। मैं उस आश्रम को देखने तथा चौबेजी से भेंट करने मेरठ गया। वहाँ साधु रामोदार भी आये थे। भोजन चौबेजी की बहन जी ने बनाया था, जो हम सब की बहनजी ही थीं। वह किसी बालिका-विद्यालय में पढ़ाती थीं और इस कारण याद है कि समय से ही भोजन बनाकर पढ़ाने चली गयी थीं। भोजन के नाम पर उस दिन बनी थी शायद केवल खिचड़ी। साधु रामोदार, चौबेजी, और मैं तीनों एक साथ खाने बैठे। साधु रामोदार की थाली में जैसे खिचड़ी की प्रथम कड़छी पड़ी, उन्होंने खानी शुरू कर दी। मैं समझता हूँ जब तक मेरी थाली में खिचड़ी पड़ी, तब तक वहाँ एक बड़ा हिस्सा समाप्त हो चुका था। "यह क्या खिचड़ी में तो नमक ही नहीं!" मैं ज़ोर से बोल ही पड़ा। लेकिन तुरन्त मेरा ध्यान आकर्षित हुआ साधु रामोदार की ओर, जो बिना एक शब्द भी बोले आधी खिचड़ी का सफ़ाया कर चुके थे।

लाहौर में साधु रामोदार की विद्वत्ता से मैं प्रभावित हो चुका था; इस छोटी सी घटना से उनकी सरलता पर मुग्ध हो गया।

साधु रामोदार के पास पहनने के कपड़ों के नाम पर एक टुकड़ा था जिसे वह धूप के समय सिर पर रख लेते, उसी से नहा लेते। बदन पर अलफ़ी थी, जो चलने-फिरने के समय साधु का चोगा और सोने के समय ओढ़ना-बिछौना। बरतनों के नाम पर एक तूम्बा था।

पिछले दस वर्षों में राहुलजी ने जो ग्रन्थ लिखे हैं, जो व्याख्यान दिये हैं उनमें तरह-तरह के खान-पान की जो चर्चा भरी पड़ी है, उसके बावजूद मैं समझता हूँ कि आज भी राहुलजी बिना कुछ बोले अलूनी खिचड़ी उसी तरह खा सकते हैं जैसे उस दिन मेरठ में।

सरलता और विद्वता के संयोग का ही दूसरा नाम मेरी दृष्टि में साधु रामोदार हो गया।

जेल और फिर प्रोफेसरी

फलित ज्योतिष को न मैं कुछ समझता हूँ, न मेरी उसमें श्रद्धा है। किन्तु सुना है कि किसी ज्योतिषी ने बचपन में कहा था—इसके पाँव में शनीचर है, यह बहुत घूमेगा।

सन् १९२७ में मद्रास-कांग्रेस आयी। मैं घूमता-घूमता मद्रास पहुँचा और साधु रामोदार मुझसे भी पहले सिंहल। साधु रामोदार को वैष्णव-साधुओं के जीवन से असन्तोष हुआ, वह आर्य-समाज में रहे। वहाँ धार्मिक-विकास हुआ, किन्तु राजनीतिक प्यास न बुझी। किसी एक व्याख्यान में कह दिया—'राजनीति में रक्त का स्थान वही होता है जो पूजा-पाठ में चन्दन का।' सरकार ने बताया कि ऐसी सूक्तियों के धनी व्यक्तियों का स्थान जेल में होता है। जेल में रह कर जो अध्ययन किया, उसे ही आगे बढ़ाने की इच्छा सन् १९२७ में उन्हें सिंहल ले गयी।

सुना है कि सिंहल पहुँच कर बौद्ध भिक्षु बनना और मागना-खाना और पालि वाङ्मय पढ़ना यही साधु रामोदार का प्रोग्राम था। किन्तु कलकत्ते में उनकी एक ऐसे भिक्षु से भेंट हो गयी जिन्होंने उन्हें 'प्रोफेसर आफ संस्कृत' के रूप में सिंहल जाने की सलाह दी और आवश्यक व्यवस्था कर दी। मैं जब सिंहल पहुँचा तो देखता क्या हूँ कि साधु रामोदार जो केवल एक अलफ़ी पहने रहते थे—बाक़ायदा धोती-कमीज पहने, मेज पर रखी किताबों के ढेर के सामने कुर्सी पर झूल रहे हैं। आठ नौ महीने तक साधु रामोदार के साथ रहने का सौभाग्य मिला।

उनकी दिनचर्या थी—
प्रातः ६ बजे उठना—
६ से ६-३० तक शौच, स्नान, शीर्षासन [दस मिनट]
६-३० से १२ तक पढ़ना। सात के आस-पास दूध-रोटी का जलपान।
१२ से ६ तक—भिक्षुओं को संस्कृत पढ़ाना। बारह बजे भोजन।
६ से ७ तक सैर,
७ से १२ बजे रात तक पढ़ना-लिखना।

पालि का गहन अध्ययन

१६२७ और २८ में लिखे हुये राहुल जी के बहुत से लेख अब 'लंका' नामक पुस्तक में प्रकाशित हो गये हैं। यह सब इसी रात, के ७ से १२ बजे तक के बीच में लिखे हुये हैं। जो लेख जिस शाम को आरम्भ होता, वह उसी रात सोने से पहले लिफाफे में बन्द करके डाक में डाल दिया जाता था। न जाने कितने लेख रात के बारह बजे ही पास के—लैटर बक्स में डाले गये। सुबह उठ कर कहते—"रात 'अनुराधपुर' के बारे में लिख डाला।" मैं पूछता—

"डाक में डालने से पहले दोहरा लिया था?"

"आखिर सम्पादक किस मतलब के लिये हैं!"

एक के बाद एक जब साधु रामोदार के लेख 'सरस्वती' में छपने लगे तो हिन्दी के सच्चे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने वर्तमान सरस्वती सम्पादक को एक पत्र लिखकर पूछा—

"यह कौन नयी विभूति हिन्दी में चली आ रही है?"

सिंहल-वास के आठ नौ महीनों में साधु रामोदार ने सारे पालि वाङ्मय को जो कि तीन महाभारत से भी बड़ा है छान मारा, और यह सब उस समय जब उन्हें नित्य पाँच घंटा दूसरों को संस्कृत पढ़ानी पड़ती थी।

तिब्बत की यात्रा

सारा त्रिपिटक समाप्त कर चुकने पर भी अभी साधु रामोदार अपने बुद्धधर्म सम्बन्धी ज्ञान को अधूरा ही समझते थे। वह आर्य-विहार

नालन्दा के पुनरुद्धार का स्वप्न देख रहे थे। 'आर्य-विहार' नालन्दा स्थविर-वाद (हीनयान) का तो महान केन्द्र होना ही चाहिये, उसके साथ महायान—बौद्धधर्म के साहित्य का भी।

इसके लिये आवश्यक था कि वह तिब्बत जाएँ और वहाँ से वह सारा भारतीय वाङ्मय जो अब मूल रूप में नहीं किन्तु अपने तिब्बती अनुवादों के रूपों में ही प्राप्य हैं, लायें। अब तिब्बत जाना कैसे हो? दार्जिलिङ्ग के रास्ते जाया जा सकता है किन्तु अंग्रेजी सरकार की परवानगी चाहिये। अंग्रेजी सरकार की परवानगी मिलने में संदेह ही नहीं, न मिलने का पूरा विश्वास था। नैपाल के रास्ते जाया जा सकता था किन्तु नैपाल में केवल शिवरात्रि के मौके पर प्रवेश पाया जा सकता है। और अन्त में थी तिब्बती सरकार।

एक समय हमारे देश के बंगाली विद्वान सर शरतचन्द्र दास तिब्बत हो आये थे। भारत भक्त तिब्बती लोगों ने उनका आदर—सत्कार किया। रायबहादुर शरतचन्द्र दास तिब्बत से भारतीय साहित्य आदि की जानकारी तो लाये ही साथ ही तिब्बत की वह जानकारी भी जो सामरिक महत्व की थी, और वह सारी जानकारी उन्होंने उस सरकार को दे दी जिसने उन्हें राय बहादुर बनाया था। तिब्बत वालों को पता लगा। सर शरतचन्द्रदास तो निकल आये थे! वह उनका कुछ न कर सकते थे, किन्तु उन्होंने उस तिब्बती परिवार को जिसने ऐसे विश्वासघाती भारतीय को शरण दी थी, बड़ी निर्दयता के साथ बर्फीले पानी में डुबा-डुबा कर मार डाला।

अब आप समझ सकते हैं कि साधु रामोदार अपने लिये तिब्बत में कैसे स्वागत की आशा रख सकते थे। तो भी वह गये। तीन-तीन सरकारों की आँख में धूल डाल कर गये। तिब्बत पहुँचे, और वहाँ दलाई लामा के दरबार में संस्कृत में एक लम्बा 'लेख' लिखकर भेजा कि मैं धर्म-प्रेम से, बुद्ध (शासन) के काम से ल्हासा पहुँच गया हूँ। अब आपकी जो इच्छा हो करें। दलायी लामा ने कहला भेजा—

"पड़ा रहने दो।"

१०

इताली सरकार ने प्रो० टूची को जिस प्रकार के खोज के कार्य के लिये एक लाख रुपये देकर भेजा था, उससे कहीं महत्त्वपूर्ण कार्य के करने के लिये हमारा यह दुस्साहसी खोजी तिब्बत गया, तब उसके पास केवल एक सौ रुपये थे।

हाँ, तो राहुलजी के 'आर्य-विहार' नालन्दा का क्या हुआ? उसका उद्धार हो सकता था, यदि राहुलजी में किसी एक स्थान पर बहुत समय तक जमकर बैठने की सामर्थ्य होती और होती धनियों के आगे हाथ फैला सकने की सामर्थ्य। पहली बात यदि सम्भव भी हो जाती तो दूसरी तीन काल नहीं। इसीलिये आर्य-विहार नालन्दा नहीं ही बन सका।

भारत को वापिसी

सन् १६३० में नैपाल और तिब्बत की खटकने जा रही थी। गुरुवर धम्मानन्द (सिंहल देशीय) ने कहा—

"फ़ौजी लोग नहीं समझते कौन पण्डित है, कौन मूर्ख। लड़ाई छिड़ने जा रही है। उन्हें लिखो कि शीघ्र जैसे बने लौट आयें।"

गुरुवर की आज्ञा से मैंने पत्र भेजा। उत्तर आया।

"......कार्य्यं वा साधएयं शरीरं वा पातएयं।......जिन समस्त ग्रन्थों का उद्धार करने की इच्छा से यहाँ आया हूँ, उन ग्रन्थों के साथ ही तिब्बत से वापिस लौट सकता हूँ।"

गुरुवर धम्मान्द जी ने दो दिन के अन्दर तीन हज़ार रुपये की व्यवस्था कर तार दिलवाया कि अपेक्षित ग्रन्थों के साथ शीघ्र लौटें। साधु रामोदार तिब्बत से सत्तरह खच्चर ग्रंथ लादकर लाये। आज वह सारा वाङ्मय पटना म्यूज़ियम में सुरक्षित है और गुरुवर धम्मानन्द जी की उस भावना का साक्षी है जो सिंहल की भारत के प्रति है और जो उस पुण्य घड़ी में व्यक्त हुई थी।

साधु रामोदार से राहुल सांकृत्यायन

सन् १६३० में ही जब राहुल जी ने पीतवस्त्र धारण किया तो ख्याल था कि उनका रामोदार साधु नाम इतना पक गया है कि अब

कोई भी नाम उसे ढक न सकेगा। बहुत सोच विचार कर रामोदार साधु के संक्षिप्त रूप रा. सा. को राहुल सांकृत्यायन के रूप में कायम रहने दिया। किन्तु रामोदार साधु राहुल सांकृत्यायन के रूप में हिन्दी संसार में इस ज़ोर से आये कि बिचारा रामोदार साधु ढक ही तो गया।

सन् १९३० ही की तो बात है। भारत में लाठियाँ चल रही थीं। सिर फूट रहे थे। राहुल जी मेरे कमरे के दरवाज़े पर आये। बोले—

"भारत में लाठियों से सर फूट रहे हैं। ऐसा न हो कि यज्ञ के लिये समिधाओं के अभाव में यज्ञाग्नि शान्त हो जाय। हमें तुम्हें चलना चाहिये।"

मैंने कहा—"मैं जाऊँगा। आप मेरे लिखने पर पीछे आयेंगे।"

आगे की चर्चा—आत्म चर्चा मात्र है।

सन् १९३० से १९४५ तक का पन्द्रह वर्ष का जीवन राहुल जी की दो प्रवृतियों के संघर्ष और समन्वय के प्रयत्न का जीवन है। वह अध्ययन और मनन द्वारा हर विषय की गहराई में पहुँचने के लिये सतत प्रयत्नशील रहे हैं, और साथ ही अपने सारे अध्ययन को मूक भारतीय जनता की सेवा के लिये समर्पित करने के लिये व्याकुल।

योरप में

१९३२ में हम दोनों साथ इंगलैंड गये। कहने को मैं उन्हें अपने साथ आग्रहपूर्वक इङ्गलैंड ले गया, किन्तु वास्तव में वह ही मेरे इङ्गलैंड जाने के कारण हुए थे।

इङ्गलैंड में क्या वह सारे योरप में दो तीन महीने ही रहे, लेकिन उतने अर्से में ही उन्होंने जो कुछ देखा सुना वह इतना पर्याप्त है कि 'मेरी योरप यात्रा' लिखी जा सकी और इन पंक्तियों का लेखक एक वर्ष आठ महीने रह कर भी वैसा कुछ न लिख सका।

१९३२ की ही एक चिट्ठी है जिसका संस्कार मेरे मन पर अमिट है। राहुल जी ने लिखा था—

"बौद्ध ग्रन्थों को हिन्दी में लाने की पञ्चवर्षीय योजना बनाई है। मज्झिम-निकाय के तीन-सूत्र प्रतिदिन के हिसाब से अनुवाद कर रहा हूँ। कभी कभी मन उचटता है। आराम करना चाहता है। तब कहता हूँ—'अरे! आराम करने का समय ५० वर्ष के बाद आता है।' तब भी कभी कभी उचटता है। तब कहता हूँ—'अरे! काम कर, प्रशंसा के मीठे लड्डू खाने को मिलेंगे।' तब भी कभी-कभी उचटता है। तब उसे ज़बरदस्ती पकड़ कर जोत देता हूँ।"

सन् १९३५–३६ में जिन्होंने राहुल जी के साथ काम किया है, जानते हैं कि २४ घंटों में से मुश्किल से तीन घंटे सोने के नाम पर ख़र्च होते थे, शेष समय में काम, काम, काम।

स्वास्थ्य की किताबों में स्वास्थ्य के जितने नियम लिखे हैं उनमें एक ही नियम है जिसका राहुल जी जाने-अनजाने पालन करते हैं, वह है प्रसन्नतापूर्वक निरन्तर काम करते रहना।

अपने देश में वाचालता धनकी एकदम कमी नहीं है। राहुल जी के आस-पास बारहा ऐसे लोगों को बैठे देखा जिन्हें न अपने काम करना न किसी को करने देना। तो भी राहुल जी आगान्तुक की भावना का ध्यान कर उनसे यथायोग्य चर्चा करते ही रहे हैं। कभी-कभी उस दिन का नियत किया हुआ काम पूरा करने के लिये उन्हें रात रात भर जागना पड़ा है। हाँ, कभी-कभी वह आगन्तुक को अपनी उस किताब के कुछ पन्ने जिसे वह उस समय लिख रहे हों अथवा जिसके प्रूफ वह उस समय देख रहे हों, सुनाने लग जाते रहे हैं। इसमें उन्हें लाभ ही लाभ रहता। सुनने वाला विज्ञ हुआ, कभी-कभी कोई काम की सलाह मिल गयी, शिक्षार्थी हुआ, कुछ सीख गया, एकदम ही समय व्यर्थ गँवाने वाला हुआ, थोड़ी देर में स्वयं उठ कर चला गया।

फिर रूस को

राहुल जी तीन चार बार तिब्बत हो आये हैं और दो बार रूस। पहली बार उन्हें कुल २४ घंटे रहने दिया गया था और दूसरी बार वह

लगभग छः महीने रहे थे। सारनाथ में एक बार रात को जब उन्होंने अपनी पिछली रूस यात्रा की विशेष बातें बतायी थीं तो लौट आने के कारणों में एक, और मेरी राय में मुख्य कारण, भारत-प्रेम ही नहीं भारत-मोह भी था।

अब तीसरी बार राहुल जी रूस गए हैं। वह वहाँ रहेंगे तो भारत के लिये और जिस दिन भी उन्हें लगेगा कि उनके रूस निवास का उनकी मातृभूमि भारत के लिये कोई उपयोग नहीं है, राहुल जी भारत लौट आयेंगे।

उनके दिल में भारत की नंगी भूखी जनता के लिये जो असीम वेदना है, उसी ने राहुल जी की लेखनी की नोक को इतना तीखा बना दिया है कि वह कुछ लोगों को इस बुरी तरह चुभती है कि वह सोते रह ही नहीं सकते।



आकर्षण

पता नहीं लन्दन का रीजैण्ट पार्क ४१ ग्लास्टर रोड का वह मकान जिसमें किसी समय बौद्ध मिशन था अब है या नहीं ? उस दिन अख़-बार में पढ़ा था कि जर्मन जहाजों की गोलाबारी से रीजैण्ट स्ट्रीट के कई मकानों में आग लग गई, उसी दिन से उस मकान के भी बारे में शक है। निराकरण करने का कोई उपाय हाथ नहीं लगा। यदि मकान सही सलामत होगा भी तो आज कल उस में कोई रहता नहीं जिसे लिख कर पूछा जा सके। किसी बाहरी आदमी से पता लगाया जा सकता है, लेकिन पत्रोत्तर आने में कितने दिन लगेंगे ?

किसी समय उस मकान में बड़ी रौनक थी। सब से नीचे के तह-खाने में बौद्ध मिशन के मैनेजर का दफ़्तर था, जो कि रसोई घर के पास होने के कारण सर्दियों के दिनों में सब से अधिक गर्म रहता—केवल आग की गर्मी से नहीं बल्कि लोगों की उपस्थिति से भी। बीच में दरवाज़े के ठीक सामने सीढ़ियों से सटा हुआ मन्दिर था—एक कमरा जिसमें मोमबत्तियों और फूलों के प्रकाश में भगवान बुद्ध की मूर्ति विराजमान थी। सर्दी के मारे शायद ही कभी कोई एकाध घंटे के लिए उस कमरे में जाकर बैठता। हाँ, जब मौसम उतना ठंडा न रहता, तो "मन्दिर" में बैठकर ध्यान लगाने वालों की संख्या बढ़ जाती। मन्दिर के साथ ही एक (Hall) था, जो इस युग के बौद्ध धर्म के सबसे बड़े प्रचारक अनागारिक धर्मपाल के नाम पर धर्म० पाल० हाल कहलाता था। उस हाल में सप्ताह में तीन चार दिन कोई न कोई मीटिंग होती। रविवार की मीटिंग तो विशेष थी। शाम के छः बजे इङ्गलैंड के स्त्री पुरुष, जिनमें कुछ भारतीय भी शामिल रहते एक पीत वस्त्रधारी भिक्षु का अनुकरण करते हुए कहतेः—

बुद्धं सरणं गच्छामि
धम्मं सरणं गच्छामि
संघं सरणं गच्छामि*

व्याख्यान होते। धार्मिक प्रवचन होते। दोनों के अन्त में प्रश्नोत्तर। किसी किसी दिन तो एक समा बँध जाता।

उसी मकान के ऊपर के तले में कुछ सिंहल-विद्यार्थी रहते थे, जो अपनी शिक्षा के निमित्त इङ्गलैंड आए थे। इन विद्यार्थियों में अधिकांश थे मैडिलक कालेज के विद्यार्थी। एक थे डा० गुणवर्धन। उस समय वे डा० गुणवर्धन न थे। डाक्टर तो वे पीछे बने जब उन्हें पी० एच० डी० की डिग्री मिली। उस समय वह केवल श्री० गुणवर्धन थे।

जिस पीत वस्त्र धारी भिक्षु का ज़िकर किया, उन्हें अनागारिक धर्मपाल ने लन्दन में बौद्ध धर्म प्रचारार्थ भेजा था। डा० गुणवर्धन और भिक्षु प्रज्ञाकीर्ति की खूब पटती थी। जब डा० गुणवर्धन को अपनी पढ़ाई से कुछ अवकाश मिलता तो वह भिक्षु प्रज्ञाकीर्ति के कमरे में चले जाते। भिक्षु प्रज्ञाकीर्ति को भी डा० गुणवर्धन का बड़ा सहारा था। वे सैर को जाते तो डा० गुणवर्धन के साथ ही। कभी कभी वह एक एक सप्ताह तक उस मकान से बाहर न निकलते। पढ़ते पढ़ते मन ऊब जाता तो पाँच सात बार सीढ़ियों से ऊपर नीचे चढ़ उतर लेते।

एक दिन रात को भिक्षु प्रज्ञाकीर्ति के दरवाजे पर खटखट हुई। उन्होंने पूछा—"Who is there ?" (कौन है ?)

"May I come in ?" (क्या अन्दर आ सकता हूँ ?)

"Please"—(बड़ी खुशी से)

दरवाज़ा खुला। डा० गुणवर्धन अन्दर आए।

"भन्ते !† आज एक यह चिट्ठी मिली है।"

"कैसी चिट्ठी ?"

*बुद्ध की शरण जाता हूं। धर्म की शरण जाता हूं। संघ की शरण जाता हूँ।
†भिक्षु को 'भन्ते' कह कर आदर से सम्बोधित किया जाता है।

"लें, पढ़ लें।"

चिट्ठी खोल कर बिजली के प्रकाश के नीचे मेज़ पर रख दी गई—

हाइड पर्क

मेरे प्राण प्रिय, सर्दियों की एक रात

मैं कितने दिनों से पत्र लिखने का इरादा करती रही हूँ। साहस नहीं होता था। आज काँपते हाथों से लिखने बैठी हूँ। क्षमा करना।

तुम जानते हो कि मैं प्रति रविवार नियम से सभा में आती हूँ। क्या मैं भिक्षु के धार्मिक प्रवचन सुनने आती हूँ? नहीं मैं केवल तुम्हें देखने के लिए आती हूँ।

कल जब तुम और भिक्षु सैर के लिए गए, तो मैं अपनी खिड़की में दो घंटे तक इस प्रतीक्षा में बैठी रही कि शायद तुम फिर उसी रास्ते से लौटोगे। न जाने कल तुम किस रास्ते से लौट गए?

तुम जानते हो कि मुझे किसी भी चीज़ की कमी नहीं, यदि कमी है तो केवल तुम्हारे प्रेम की एक कमी है। मैं नहीं जानती कि मैं क्यों ऐसा करती हूँ, लेकिन मैं यह स्वीकार करूँगी कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ। मैं तुमसे एकान्त में मिलना चाहती हूँ।

कल शनिवार है। क्या तुम मेरी इतनी प्रार्थना स्वीकार करोगे कि कल शाम को ८-३० बजे—ठीक ८-३० पर—कैनिंगस्टन स्टेशन के बाहर मिलो? मैं वहाँ पर आठ बजे से ही तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी।

तुम्हें क़सम है अपने भिक्षु की, जिसे तुम इतना आदर और प्रेम करते हो—ज़रूर आना। यदि और नहीं तो कम से कम इतना ही कहने के लिये आना कि तुम मुझे नहीं चाहते। आओगे न? आशा है निराश नहीं करोगे।

मैं अभी से घड़िया गिन रही हूँ।

केवल तुम्हारी ही
मिस डौरोथी

प्रज्ञाकीर्ति जी चिट्ठी पढ़ चुके तो उन्होंने डा० गुणवर्धन की ओर देखा। डा० गुणवर्धन को ऐसा लगा था मानों किसी ने उनका अपमान कर दिया हो। वह सोच रहे थे कि कोई इस चिट्ठी को देख लेता तो क्या कहता। सौभाग्य से बीच में किसी के हाथ यह चिट्ठी नहीं लगी।

डा० गुणवर्णन ने कहा:—

"भन्ते! मैंने इस चिट्ठी का यह जवाब लिखा है।"

"तो उसे भी देखें।"

डा० गुणवर्धन ने लिखा था:—

ग्लौस्टर रोड

तिः ७—११—

प्यारी बहन,

तुम्हारा पत्र मिला है। मुझे यह पत्र पाकर बहुत अफसोस हुआ। मैं समझता था कि तुम भले घर की लड़की हो। लेकिन तुम्हारे इस पत्र को पाकर मेरा इरादा बदल गया।

तुमने लिखा है कि मैं मीटिंग में धर्मोपदेश सुनने नहीं आती, तुम्हें देखने आती हूं। यह तो अत्यन्त अनुचित है।

तुम्हें यदि मीटिंग में आना हो तो धर्मोपदेश सुनने के लिए ही आना चाहिए। नहीं तो नहीं आना चाहिए।

मैं तुम्हें मिलने के लिये किसी भी जगह कभी नहीं आ सकता।

तुम्हारा

गुणवर्धन

प्रज्ञाकीर्ति जी ने डा० गुणवर्धन की चिट्ठी देखी तो बोले—"यह तो ठीक नहीं लिखी गई।"

"भन्ते! क्यों?"

"इसमें तुम भूल गये हो कि तुम यदि देवता हो, तो वह देवी है। तुम यदि राक्षस हो तो वह राक्षसी है। तुम यदि मनुष्य हो, तो वह मानव ही। मतलब जो तुम हो सो वह है।"

"उसने मुझे ऐसी चिट्ठी क्यों लिखी ?"

"तुम भी किसी को किसी दिन ऐसी चिट्ठी लिख सकते हो। यदि आज नहीं लिखते तो कोई अभिमान की बात नहीं है।"

"भन्ते ! मुझे इस पत्र से बहुत दुःख हुआ है। मैं उससे किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रखना चाहता।"

"सम्बन्ध तो तुमने स्थापित कर ही लिया है—प्रेम का न सही, घृणा का सही।"

"तो मैं क्या करूँ, पत्र न लिखूँ ?"

"कौन कहता है, पत्र न लिखो। पत्र लिखो लेकिन जैसे लिखना चाहिए वैसे लिखो।"

"कैसे लिखूँ ?"

"जाओ अलमारी में से अङ्गुत्तर-निकाय निकाल लाओ। उसमें देखो आरम्भ में ही बुद्ध ने क्या कहा है ?"

डा० गुणवर्धन प्रज्ञाकीर्तिजी की कितावों में से अङ्गुत्तर-निकाय ले आए। पहले पन्ने पर ही लिखा था—

"भिक्षुओ। मैं किसी ऐसे रूप को नहीं देखता, जो पुरुष के चित्त को इस प्रकार आकर्षित कर सके, जैसी स्त्री का रूप। भिक्षुओ ! मैं किसी ऐसे रूप को नहीं देखता, जो स्त्री के चित्त को इस प्रकार आकर्षित कर सके जैसे पुरुष का रूप।"

प्रज्ञाकीर्तिजी—"इसे पढ़ा है ?"

गुणवर्धन—"पढ़ा तो है ?"

प्रज्ञाकीर्तिजी—"तो ?"

गुणवर्धन—"मैं इस पत्र को फाड़े डालता हूँ।"

प्रज्ञाकीर्तिजी—"हाँ, यह पत्र तो फाड़ डालने ही लायक है। जाओ दूसरा पत्र लिखो, जिसमें तुम्हारा विवेक हो, लेकिन तुम्हारी सहज सहानुभूति ने तुम्हारा साथ न छोड़ दिया हो। जो पत्र लिखो। वह डाक में डालने से पहले मुझे दिखा लेना।"

× × ×

गुणवर्धन अपना मुँह नीचे किए कुछ सोचते हुए कमरे से बाहर चले गए। प्रज्ञाकीर्ति जी को भी सुबह जल्दी उठकर काम करने का ख्याल था। सो गए।

दूसरे दिन पता लगा कि जिसे वे 'सर्दी की एक रात' समझे थे, वह अप्रैल की पहली तारीख थी और श्री० गुणवर्धन के एक मित्र ने उन्हें और उनके साथ प्रज्ञाकीर्तिजी को भी बुरी तरह छकाया था—अप्रैल-फूल* बनाया था।



*अप्रैल की पहली तारीख को किसी से कोई गहरा मज़ाक करना या उसे मूर्ख बनाना वैसे ही क्षम्य है, जैसे अपने यहाँ होली के दिन।

वेतन—किसका, कितना

(१)

यहाँ सारनाथ में, जहाँ मैं आजकल रहता हूँ, एक अन्धा है और एक अन्धी—भिखमंगे, बूढ़े वैसे ही बूढ़े, जैसे किसी बूढ़े को देख कर भगवान बुद्ध को संसार से वैराग्य हो गया था।

कुछ वर्ष पहले वे उस छोटी सी लाल सड़क के दोनों किनारों पर—जो मूलगन्धकुटी विहार से धमेक-स्तूप को जाती है—बैठ कर भीख माँगा करते थे। भीख माँगने वाले आपने अनेक देखे होंगे, लेकिन उतने ज़ोर से चिल्लाकर वैसी करुणोत्पादक आवाज़ में शायद ही। उनकी करुणापूर्ण करख्त* आवाज़ से यात्रियों को क्लेश होता। यात्री आते थे यहाँ 'शान्ति' के लिये। उनकी आवाज़ यात्रियों को शान्ति न प्राप्त करने देती। कुछ समझ में न आता था कि उनका क्या किया जाय?

एक दिन महाबोधी सोसायटी के प्रधान मंत्री श्री देवप्रिय वलीसिंह से उनका सौदा पट गया। उन्होने 'उस स्थान पर बैठकर चिल्लाना बन्द कर दिया। और उसके बदले में अन्धी को ३) रु० और अन्धे को ४) रु० मासिक वेतन मिलने लगा। आज तीन चार वर्ष हो गये, महीना पूरा होते ही—कभी कभी दो दिन पहले ही—वे दोनों अपनी लाठी टेकते हुए पहुँच जाते हैं और जब उन्हें कभी कह दिया जाता है कि अभी महीना पूरा नहीं हुआ तो वे आकाश की ओर ऐसे घूरने लग जाते हैं, मानों दिनों के साथ आसमान के तारे भी गिन रहे हों।

मैं नहीं जानता कि वे दोनों माँग कर अधिक कमाते थे अथवा इस प्रकार अधिक पा रहे हैं? उनका वेतन सदैव के लिये निश्चित मालूम होता है। न कभी उनकी वेतन वृद्धि की दरख्वास्त आयी, न स्वीकृत हुई। उन्हें शायद यह नहीं मालूम कि यह महंगाई के भत्ते मिलने का

---

*कठोर।

युग है। नहीं तो वे इसके लिये प्रार्थना करते। वे अपने वचन पर कायम हैं और अब कभी वहाँ बैठकर नहीं चिल्लाते। उनका 'वेतन' उन्हें निश्चित तारीख को मिल जाता है, बल्कि एक दिन पहले।

उन्हें यह वेतन क्यों मिलता है? कुछ करने के लिये? नहीं, बल्कि कुछ करने से विरत रहने के लिये।

(२)

मेरा ध्यान जाता है मज़दूरों के वेतन की ओर। हम उनके वेतन को 'वेतन' नहीं कहते, 'मज़दूरी' कहते हैं—यद्यपि उसमें और वेतन में यही अन्तर है कि वेतन मासिक, पहली या दूसरी तारीख को, मिलता है और मज़दूरी रोज शाम को अथवा प्रतिसप्ताह। असल बात यह है कि मज़दूर एक दूसरे ही वर्ग का प्राणी है, उसके वेतन के लिये भी कोई खास शब्द ही रहना चाहिये—वह शब्द है मजदूरी। मैंने अपने सामने की सड़क को मई जून की चिलचिलाती कड़ी धूप में मजदूरों द्वारा कुटते हुए देखा है। उस समय जब किसी भलेमानुस के सिर को ठंडा रखने के लिये छतरी पर्याप्त नहीं होती, तौलिया भिगोकर और सिर पर रख कर दिमाग को ठंडा रखा जाता है, उस समय ये 'भाग्य-वान' नंगे सिर—नंगे पैर, पत्थरों से सिर मारते हैं। उस दिन वह कोई भूखा मज़दूर ही तो था जिसने न जाने किस परिस्थिति में सड़क पर पड़े हुये काले काले गरम-गरम डामर कोलतार—को अपने मुँह में भर लिया था। और उसका मुँह ऐसा चिपक गया था जैसे सरकारी बन्द लिफाफा। लोग कहते हैं, परिश्रम करने से आदमी अमीर होता है। मैं कहता हूँ—झूठ, बिलकुल झूठ। परिश्रम से धन पैदा होता है, लेकिन आदमी अमीर होता है तभी, जब उसके धन को कोई दूसरा लूट कर न ले जाय। मज़दूर के धन को कौन लूटता है? ठेकेदार लूटता है, व्यापारी लूटता है, वह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड लूटता है, म्युनिसिपल बोर्ड लूटता है, जो सड़कें बनाने या मरम्मत कराने का ठेका देता है। मज़दूर की बनाई हुई सड़क पर क्या उसे स्वयं भी कभी मोटरकार में बैठ कर हवाखोरी करने का अवसर मिलता है? उसकी

तो सारी उम्र बीत जाती है एक के बाद दूसरी सड़क कूटने में ही। सुना है, रूस में मजदूर अच्छे अच्छे साफ सुथरे घरों में रहते हैं और मोटर में बैठकर हवाखोरी के लिये निकलते हैं। अपने यहाँ भी तो "मकानों" में ही रहते हैं! ये भी कोई मकान हैं—कबूतरखानों से भी बदतर जिनमें दस दस, पन्द्रह पन्द्रह आदमियों का एक साथ गड्डमगड्ड होता है। हाँ, मजदूरों को सीमेंट की बोरियों की जगह कभी कभी मोटरलारियों में लदे जाते अवश्य देखा है। इस देश के बदनसीब मजदूरों की यही हवाखोरी है।

इन महाप्राणों को क्या मिलता है? उतना ही जितना न मिलने से ये दो—एक दिन में धराशायी हो जा सकते हैं। सड़कें कुटवाने वालों को उनसे रोज सड़कें कुटवानी ही हैं, दो दिन मज़दूर को कुछ चना चबैना न दें तो कल वह कैसे कूट सकेगा? लोहे का इञ्जन सड़क कूटता है उसको भी तो कुछ इन्धन लगता ही है, मज़दूर के लिये भी थोड़ा कोयला-पानी सही। इन्जन और मजदूर-इञ्जन में यही सब से बड़ा अन्तर है कि वह जब खाली खड़ा रहता है तो कुछ नहीं माँगता और यह जब केवल साँस लेता रहता है—तब भी कम्बख्त कुछ-न-कुछ (कोयला-पानी) अवश्य चाहता है। इस दृष्टि से यह बड़ा ही निकम्मा है। लेकिन क्या किया जाय? लोहे का इञ्जन केवल सड़क कूटता है—बना नहीं पाता। यदि उसे सड़क बनाने लायक हाथ और पैर होते तो सड़क कुटवाने वालों ने इस मज़दूर-इन्जन से कब की छुट्टी पा ली होती।

इन्जन खड़ा खड़ा कुछ नहीं माँगता। घोड़ा और मज़दूर खड़े खड़े कुछ माँगते हैं। हम आदमी से और घोड़े से काम लें या न लें लेकिन उसे खिलाते रहना पड़ता है। मज़दूर ही वह पशु है जिसे 'बेकार' कर उससे एकदम छुट्टी पायी जा सकती है। काम घोड़े की तरह करता है लेकिन मज़दूर का भाग्य घोड़े जितना अच्छा नहीं।

(३)

इन मज़दूरों के बाद मेरा ध्यान कुछ चौकीदारों के वेतन पर जाता

है, जो पहरा देने का काम करते हैं। उनके बारे में यह आम शिकायत है कि वे रात को पहरा न देकर सो जाते हैं। मैं भी एकाध बार "चौकीदार" के पहरा देने के बजाय सोने को प्रमाणित करने के लिये उसकी लालटैन और लट्ठ का बल्लम उठा लाया हूँ। चौकीदारों को जो वेतन मिलता है वह ज़्यादा नहीं होता, लेकिन वह किस बात का? किसी गरीब के घर पर आप चौकीदार न देख सकेंगे। वहाँ चौकीदारी करने के लिये रहता ही क्या है! गाँव के चौकीदार हैं, किन्तु उनका वेतन जिस चौकीदारी-टैक्स से दिया जाता है, उस टैक्स के दाता सम्पन्न-लोग ही तो हैं। चौकीदार का काम है चोरों से सम्पन्न लोगों के धन की रक्षा करना। पूँजीवादी समाज के ये 'सम्पन्न-लोग' कहाँ से आते हैं? पसीने की कमाई से आदमी का पेट नहीं भरता और ये लखपति-करोड़पति ही अरबपति बन जाते हैं। उस दिन एक बड़े धनी व्यक्ति का वक्तव्य पढ़ने को मिला—गान्धीजी की अहिंसा का महात्म्य था। लेकिन उनके अपने दरवाज़े पर चौबीस घंटे बन्दूक कन्धे पर रखे सिपाही टहलता रहता है, रात दिन पहरा देता रहता है। क्या हिंसा से उपार्जित कमाई की रक्षा अहिंसा द्वारा हो ही नहीं सकती! तो पहरे-दारों को वेतन क्यों मिलता है? किसी समाजोपयोगी कार्य के लिये? नहीं—केवल "सम्पन्न लोगों" के धन की रक्षा करने के लिये। चौकी-दार से सिपाही का दर्जा ऊँचा है और फौजी सिपाही का उससे भी ऊँचा, लेकिन क्या तीनों एक ही जाति के नहीं हैं?

(४)

फिर मेरा ध्यान जाता है, अध्यापकों के वेतन की ओर। उनका काम सबसे अधिक महत्वपूर्ण और वेतन उसके मुकाबले में सब से कम! किमाश्चर्यमतः परम्! जाति के बच्चों का शिक्षण जिनके हाथ में हो, भावी जाति के जो निर्माता हों, उनको अन्न-वस्त्र की हमेशा कमी रहे! प्राइमरी स्कूल के अध्यापकों का परिश्रम सराहनीय तो होता ही है, दयनीय भी। मैंने उन्हें गाँवों में घर—घर जाकर लड़कों को हेरते-बटोरते देखा है, जैसे कोई चरवाहा अपनी बकरियों या भेड़ों को बटो-

रता है। किसी समय शिष्य गुरुओं की खोज में भटका करते थे। इस युग की विशेषता है कि गुरु शिष्यों की खोज में भटका करते हैं। क्यों न हो, स्कूल की ग्रान्ट लड़कों की संख्या पर निर्भर करती है—और उनको जैसे तैसे बटोर कर रखना ही है। स्कूलों के अध्यापकों को जो वेतन मिलता है, वह किस बात का? उत्तर है—शिक्षा देने का। शिक्षा देना अच्छा काम है, लेकिन वह शिक्षा कैसी है? बनारस में कुछ लोग छोटे लड़कों को किसी की जेब कतर लाने की शिक्षा देते हैं—वह भी तो शिक्षा ही है। चोरी की विद्या को भी विद्या कहा गया है। तो अध्यापकों से हमारे स्कूली बच्चों को जो शिक्षा मिलती है, वह कैसी है? वह अपने देश के इतिहास और भूगोल के बारे में बहुत अज्ञानी बने रहकर दूसरे देशों के इतिहास और भूगोल को रटने की शिक्षा है। वह अपनी मातृभाषा और राष्ट्र-भाषा का आदर न कर सात हज़ार मील दूर की भाषा को शिरोधार्य करने की शिक्षा है। वह सामाजिक अवस्था में जो उथल-पुथल हो रही है, होनी चाहिये, उससे दूर-दूर रहने की शिक्षा है। वह स्वतन्त्र चिन्तन न कर मशीन की तरह सोचने की शिक्षा है।*

जो व्यक्ति या समाज चाहता है कि उसके बच्चों को ऐसी शिक्षा मिले, वह अध्यापकों को 'वेतन' देता है—बहुत कम नहीं, बहुत अधिक नहीं। कम से कम जितने वेतन पर अध्यापक मिल सकता है उससे कम नहीं, और अधिक से अधिक जितना वेतन लेकर अध्यापक फँसा रह सकता है, उससे अधिक नहीं। अध्यापक का कार्य शिक्षा देना है—बड़ा पुनीत कार्य! लेकिन क्या यह सब शिक्षा है? पराधीन चेतना के बालक तैयार करने के कारखानों को शिक्षालयों का नाम दिया गया है।

(५)

अब मेरा ध्यान उखड़ जाता है और बीच में कहीं नहीं रुकता।

*एक लड़के से मैं पूछ बैठा कि पाँच रुपये की घड़ी में चार बजे हों तो दस रुपये की घड़ी में क्या बजेगा? उसका उत्तर था कि आठ बजेंगे। क्या आप विश्वास करेंगे कि वह इलाहाबाद में एक स्कूल के आठवें दर्जे का विद्यार्थी है।

वह रुकता है उन लोगों की आमदनी पर जाकर, जिनके बारे में यह कहा जाता है कि वह चाँदी का चम्मच मुँह में लिये पैदा होते हैं। जब मैं सुनता हूँ कि अमुक आदमी की आमदनी १०००) रु० माहवार है तो सोचने लगता हूँ कि वह १०००) रु० का क्या करता होगा? ३) माहवार पाने वाली सारनाथ की उस बुढ़िया को भी जीते देखता हूँ और १०००) रु० पानेवाले को भी। कोई कहता है कि ३) रु० पानेवाले का भी जीना कोई जीना है—किसी के कुछ काम का नहीं। मैं कहता हूँ १०००) पाने वाले का भी जीना कोई जीना है—अनेक लोगों के लिये कष्टदायक! ३) रु० माहवार पाने वाली अन्धी को कुछ और भी आमदनी होती होगी! हो सकता है कि कभी कहीं से सूखी रोटी के दो टुकड़े मिल जाते हों, लेकिन १०००) रु० पाने वाले को तो कोई कहे तो सही—कितनी ऊपर की आमदनी होती है!

"१०००) रु० माहवार भी किसी की आमदनी होगी!" मैं विश्वास करता हूँ कि यदि उस अन्धी बुढ़िया को यह समझ आ जाय, कि १०००) रु० भी किसी की आमदनी होती है तो वह अवश्य पूछेगी। लेकिन क्या वह यह कल्पना कर सकेगी कि १०००) रु० कितना होता है? उसको समझाना होगा कि ३) रु० माहवार के हिसाब से उसे एक बरस में ३६) रु० मिलेंगे और अगर वह १० साल और जिये तो उसे ३६०) रु० मिलेंगे। यदि आगे और दस वर्ष वह जिये, तब और ३६०) रु० मिलेंगे। लेकिन तब भी उसका बीस वर्ष का वेतन इकट्ठा करने पर वह १०००) रु० न पा सकेगी। उसके लिये उसे और १० वर्ष जीवित रहना होगा, तब कहीं उसका वेतन उतना हो सकेगा। ओह! इतना वेतन! हाँ इतना वेतन हमारे कालेजों में उन अध्यापकों को मिलता है, जो देश के बच्चों को अँग्रेज़ी में गिटपिट करना सिखाते हैं। और इसका भी दस गुना वेतन हमारे युक्त-प्रान्त के गवर्नर महाराज को मिलता है और उतना ही या उसके आस-पास ही हमारे देश के सभी प्रान्तीय गवर्नरों को।

कुछ लोग समझते हैं कि इस देश के राजा लोगों का कुछ हिसाब-

किताब नहीं रहता। वह अपने राज्य के मालिक हैं। नहीं, अनेक राजाओं के प्राइवेट खर्चे बँधे हैं। मैसूर नरेश का निजी वेतन १३,४०,०००) रु० वार्षिक है और ट्रावनकोर के महलों का खर्च ११,००,००६) रु० है। मैसूर-नरेश इटली के बादशाह से डेढ़ गुना वेतन लेते हैं।

इङ्गलैण्ड में एक सामान्य जन की आय २) रु० प्रतिदिन कूती गयी है। वहाँ के प्रधान मंत्री उसकी आय से ६०) गुना अधिक अर्थात् १८०) रु० रोज़ वेतन पाते हैं। भारत में एक आदमी की आय ३ आना रोज़ है। हमारे वायसराय ५,६०० गुना अर्थात् ७७० रु० प्रतिदिन पाते हैं।

इङ्गलैंड के नरेश अपने देश की राष्ट्रीय आय का मोटा-मोटी १६००वाँ हिस्सा ले लेते हैं। बेलजियम नरेश १०००वाँ हिस्सा, इटली नरेश ५००वाँ हिस्सा, डेन्मार्क नरेश ३०० वाँ हिस्सा, जापान नरेश ४०० वाँ हिस्सा लेकिन भारत में ट्रावनकोर की रानी अपनी राजकीय आय का १७वाँ हिस्सा अपने लिये ख़र्च करती रही हैं। मैसूर नरेश १४वाँ हिस्सा खर्च करते हैं, हैदराबाद निज़ाम १३वाँ हिस्सा ख़र्च करते हैं और बड़ोदा नरेश भी उतना ही। काश्मीर और बीकानेर नरेश को तो अपनी राजकीय आय का ५वाँ हिस्सा अपने ही लिये चाहिये और ऐसे भी कई नरेश हैं, जो राजकीय आय का तीसरा हिस्सा और कहीं कहीं तो आधा हिस्सा तक अपने ही उपयोग में लाते हैं।

अलवर नरेश राजकीय आय का ५० प्रतिशत अपने राज-परिवार पर ख़र्च करते हैं और १ प्रतिशत शिक्षा पर। एक बार एक राजकुमार ने चार दिन के लिये शिमला शैल की सैर की थी। उसका खर्च हुआ था—२३,२४०) रु० अर्थात ५,८१०) रु० रोज।

यह ५,८१०) रोज़ाना ख़र्च करने वाले भी आदमी हैं और वह ३ या ४ पैसे रोज पाने वाले दो जन भी आदमी हैं!

मिट्टी या सोना

जिस व्यक्ति को प्राकृतिक चिकित्सा के कुछ प्रेमी उसका विरोधी समझते हों और विरोधी प्रेमी उसके अनुभव कुछ सावधान रह कर ही पढ़े जाएँगे !

१६२६

स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक कलकत्ते में अपने एक भक्त के यहाँ ठहरे थे। दुर्भाग्यवश इस समय उन सज्जन का नाम स्मृति-पट से मिट गया है पर याद ज्यों की त्यों बनी है। वे महाराज दरभंगा के प्रतिनिधि वकील (Attorney) थे। एक तो अतिथिप्रिय पंजाबी, दूसरे सम्पन्न घराना। किसी चीज़ की कमी न थी। स्वामी जी के साथ में मैंने भी लगभग दो-तीन सप्ताह उनके यहाँ रह कर घर के सुख का अनुभव किया।

उन दिनों मेरी पिण्डली में न जाने कहीं से कोई खरोंच लग गई थी या फोड़ा हो गया था। इतना याद है कि यह बुरी तरह तंग कर रहा था। बीच बीच में मैंने उस पर कई चीजें लगाईं लेकिन पैर का ज़ख्म अच्छा होने ही में न आता। जब देखो तब उसमें से कुछ न कुछ बहता रहता। जिस प्रकार अपने किसी दुर्गुण को छिपाए रखने का प्रयत्न प्रायः असफल होता है उसी प्रकार मैं अपने ज़ख्म को भी छिपाए न रख सका।

एक दिन हमारे मेज़बान ने पूछा :—"तुम्हें क्या हो गया ? लँगड़ा कर क्यों चलते हो ?" मैंने उन्हें अपना ज़ख्म दिखाया और जिज्ञासा की—"क्या लगाऊँ ?" उन्होंने कहा—"नीचे कमरे में जाकर देख लो। आलमारी दवाइयों से भरी पड़ी है। उनमें से कुछ लगाना चाहो, वह लगाओ। यदि वह दवाई करना चाहते हो जो मैं स्वयं करता हूँ तो वह बता दूँ।"

"मैं आपकी ही दवा करना पसंद करूँगा।"

"तो ज़ीने से ऊपर चढ़ जाओ और वहाँ टंकी में बहुत सा गारा पड़ा है। उसमें हाथ डालकर दिन में जब जब मन करे उस गारे से अपने ज़ख्म को पोत लो।"

मैंने उनकी बात मानी। ऊपर गया। वहाँ एक बड़ी भारी लोहे की टंकी में मनों मिट्टी घुली पड़ी होगी। उसमें किसी का क्या लगता था। मैंने थोड़ी सी लेकर अपने ज़ख्म पर पोत ली। पहली पोताई से ही ज़ख्म की सफ़ाई शुरू हो गई। उसके बाद जब जब मिट्टी सूख जाती मैं उसी पर और नई चढ़ा देता। दो तीन दिन इसी तरह करता रहा। जिस ज़ख्म ने मेरी अकल हैरान कर रक्खी थी, तीन चार दिन के मिट्टी प्रयोग से न जाने कहाँ गया!

१९३३

कलकत्ते से जर्मनी दूर की उड़ान है। पहला अनुभव है सन् १९२६ का और यह सन् १९३३ का—पूरे सात साल बाद का।

जर्मनी के डा० ठालके इतने बड़े दार्शनिक हो गए हैं कि यदि वे बौद्ध न होकर ईसाई होते तो उनकी ख्याति वैसे ही फैलती जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक शापनहार की। उनकी बहन मिस वर्था ठालके ने मुझे जर्मनी आने के लिए निमन्त्रित किया। डाक्टर ठालके स्वयं जीवित न थे, इसलिए उनका घर मेरे लिए तीर्थ स्थान हो गया था। जब मैं वहाँ पहुँचा, तो उनके परिवार में सब स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ थीं—अपवाद था एक चौदह वर्ष का बालक पाल ठालके। मैं पीत वस्त्रधारी भिक्षु और वह सब मेरी माँ बहनें—स्वभावतः काम काज से जब मुझे छुट्टी मिलती, तो मेरा साथी होता वही पाल ठालके। वह मुझे जर्मन पढ़ाता और मैं उसे अंग्रेज़ी।

एक दिन मेरा ध्यान उसके हाथों की तरफ़ गया तो मैंने देखा उसकी उंगलियाँ पकी पड़ी हैं। छोटे छोटे ज़ख्म, लेकिन उनमें से पीब निकलता है। बालक हाथों को छिपाए रखने की कोशिश करता था। मेरी सहानुभूति उसे अच्छी न लगती थी। ऐसी सहानुभूति जो सहानुभूति

कर्ता के साथ जिसके प्रति प्रकट की जाए उसे भी अच्छी लगे सहज कार्य नहीं। लोगों की सहानुभूति प्रायः किसी के दोष को दूर हुआ देखने के लिए नहीं, बल्कि उसे उघाड़ कर देखने के लिए होती है। मुझे अपनी कलकत्ते वाली दवा याद आई—वही मिट्टी।

बर्लिन के पास का वह कस्बा जिसके खम्भे लोहे के और सड़कें पत्थर की, वहाँ मिट्टी कहाँ मिले! जिस मकान में हम रहते थे वह बालू के ढेर पर बना हुआ था, वहाँ की मिट्टी किस काम की! मैं सुबह शाम सैर को निकलता, मेरी आँखें मिट्टी खोजती रहतीं। सड़क के दोनों ओर जो पैदल चलने का रास्ता, वह भी पक्का। तीन चार दिन मैं बराबर मिट्टी के लिए हैरान रहा। कभी कभी तो मैं उन सड़कों पर खीझ उठता कि कम्बख्त पक्की क्यों हैं!

एक दिन कहीं सड़क की मरम्मत होती देखी। ज़मीन के अन्दर का कोई पाइप ठीक करने के लिए बहुत नीचे से खोदकर निकाली हुई मिट्टी सड़क के किनारे पड़ी थी। मुझे बड़ी खुशी हुई। नज़दीक जाकर देखा, उसमें भी मिट्टी कम तथा बालू और पत्थर ही अधिक।

जिस मकान में ठहरा था, उसी में एक डब्बा पड़ा था—खासा खूबसूरत। गत्ते का बना हुआ। उसमें देखा मैदे की तरह की कोई चीज़ है। मिट्टी भी हो सकती है, ऐसा लगा। मैंने थोड़ी सी ली। पानी से भिगोकर सूँघी। मिट्टी की सी भीनी भीनी खुशबू आई। एक तश्तरी में थोड़ी सी घोल कर मैंने पाल ठालके की उँगलियों पर पोत दी। पहले ही दिन की पोताई में उसको इतना लाभ हुआ कि फिर मुझे उसे कुछ कहने की ज़रूरत न हुई। वह सुबह शाम स्वयं पोत लेता और दौड़ कर ख़ुशी ख़ुशी आकर दिखाता कि उसकी उँगलियाँ कितनी साफ हो गई हैं। डिब्बा समाप्त होते होते उसकी उँगलियाँ लगभग बिल्कुल साफ़ हो गईं।

एक दिन मैंने उस डिब्बे को ध्यान से देखा तो उस पर जर्मन भाषा में लिखा था—नेचर क्योर (प्राकृतिक चिकित्सा)—और उसके साथ लिखा था १ मार्क। तब मेरी समझ में आया कि इस डिब्बे में

किसी प्राकृतिक चिकित्सालय द्वारा साफ़ की गई मिट्टी रही है और उस लगभग डेढ़ पाव मिट्टी का मूल्य रहा है एक मार्क अथवा एक रुपया।

१६३८

बीमार आदमी से बढ़कर कोई बेबस नहीं होता, और विशेष कर जब उसके और उसके हितचिन्तकों के दिमाग़ में इस मिथ्या-विश्वास ने घर कर रखा हो कि स्वास्थ्य वैद्यों और डाक्टरों की दुकान पर रुपए ख़र्च करने से ही मिलता है। मैं भी कुछ समय तक इस प्रकार की बेबसी से बहुत दुःखी रहा हूँ।

उन दिनों गोरखपुर में मेरे साथ ४०-५० विद्यार्थी रहते थे। जिनमें किसी न किसी को कोई न कोई रोग लगा ही रहता। आस पास कोई दुःखी न हो और यदि किसी को कोई बीमारी हो तो मैं उसे दूर कर सकूँ—इसी इच्छा के वशीभूत होकर मैंने चिकित्सा-पद्धतियों की ओर ध्यान दिया। डाक्टरों की हज़ारों शीशियाँ और उनमें क़ैद नाना प्रकार की रंग-बिरंगी दवाइयों की बात तो मैं सोच ही न सकता था। वैद्यों की वैद्यक कुछ सरल मालूम दी, लेकिन इसमें भी दवाइयों को कूटने छानने, अर्क निकालने का झंझट। उन्हीं दिनों मुझे श्री० जानकीशरण वर्मा की 'रोगों की अचूक चिकित्सा' हाथ लगी। पढ़कर दिल की कली खिल गई। समय समय पर प्राकृतिक-चिकित्सा-सम्बन्धी साहित्य में पहले भी पढ़ चुका था; लेकिन इसमें सारी चीज़ एक सिलसिले से मिली। वर्मा जी को अनेक साधुवाद!

मैंने अपने और अपने आसपास के रोगियों पर अनुभव करने आरम्भ किये। मिट्टी, वस्ती-क्रिया (एनीमा) और गर्म पानी—इन्हीं तीन चीज़ों के हेर फेर से प्रायः मेरा सब काम चल जाता। ज्यों ज्यों सफलता होती गई, विश्वास बढ़ता गया। दो चार प्रयोगों की सफलता पर तो मुझे स्वयं अत्यधिक आश्चर्य हुआ। हाँ, जब कभी मैं अपने रोगी विद्यार्थियों के लिए थोड़ा सा दूध, या थोड़ी सी उबली हुई सब्ज़ी भी न जुटा पाता तो अवश्य खीझ होती; लेकिन उसमें बिचारी शिक्षा-पद्धति का क्या दोष? उसका क्या कसूर? अभागा है वह समाज

जिसमें लोगों को थोड़े से स्वच्छ पानी के लिए, थोड़ी सी साफ हवा के लिए, पाव भर दूध के लिए और आध पाव हरी तरकारी के लिये भी तरसना पड़े।

१६३६-१६४०

'रोगों की अचूक चिकित्सा' के बाद मैं प्राकृतिक-चिकित्सा पद्धति के और भी कई ग्रन्थ पढ़ गया। नेचर-क्योर (Nature-cure), ले० डा० लिन्डलहर मुझे विशेष जँचा। उसमें प्रचारक के अत्यधिक उत्साह की कमी और वैज्ञानिक की सावधानता दिखाई दी। इन पुस्तकों के पढ़ने से ऐसा तो नहीं हुआ कि मैं सभी रोगियों अथवा किन्हीं भी रोगियों की कुछ विशेष सेवा कर सका होऊँ; लेकिन इतना अवश्य हुआ—और यह लाभ कम नहीं—कि अब मैं अपनी अथवा पास पड़ोस में किसी की बीमारी से पहले की तरह घबराता नहीं। एक दो उदाहरण देने की आज्ञा चाहता हूँ:—

(१) मेरे एक अज़ीज को शाम को दस्तों और उलटी की एक साथ शिकायत हो गई। पेट में वायु भर गया। बजाने पर ढोल की तरह बजाया जा सकता था। लोगों ने मुझे खबर दी। मैं गया। सलाह हुई कि डाक्टर को बुलाकर दिखाया जाय जाए। लेकिन रात थी। डाक्टर को बुलाना सम्भव न था! मैंने पूछा कि क्या तब तक मैं अपनी दवाई करूँ? रोगी ने कहा—'कुछ भी तो हो।' मैंने गर्म पानी में नीबू निचोड़ कर पिलाने की व्यवस्था की और पेड़ू पर गीली मिट्टी की आध इञ्च मोटी रोटी रखने को कहा। रात में केवल दो बार मिट्टी की रोटी रखनी पड़ी। प्रातःकाल रोगी बिल्कुल चंगा हो गया। डाक्टर के यहाँ जाना ही न पड़ा।

(२) एक लड़के को जो मेरे निकट रहता है, मैंने रात को बेचैन पाया। वह कभी कमरे से बाहर जाता, कभी भीतर आता। पूछने पर पता लगा कि उसे पेशाब नहीं उतर रहा है। तकलीफ हो रही है। यह रोग मेरे लिये नया था। मैं कुछ घबराया। लेकिन तब भी रात के ग्यारह बजे और कोई उपाय न देख, मैं पास के अखाड़े से अपने

भिक्षा-पात्र भर मिट्टी ले आया। पानी से अच्छी तरह गूंथ कर रोटी बना उसे नाभी से नीचे पेड़ू पर रख दिया। थोड़ी ही देर में लड़के का पेशाब उतर आया और रात भर आराम से सोया।

ऊपर के दो अनुभव उन कइयों में से हैं जिनके कारण मैं अपने ऐलोपैथी-भक्त मित्रों द्वारा मज़ाक का साधन बन कर भी समय समय पर मिट्टी के प्रयोगों से लाभ उठाता ही हूँ। इधर का एक ताज़ा उदाहरण सुन लें:—

एक भाई को धातु-पतन की बीमारी हो गई। उनका कहना था कि उन्हें चलते फिरते दिन में भी दो-दो तीन-तीन बार धातु-पतन हो जाता है। वे छटाँक छटाँक भर घी और सेर सेर भर दूध पीते हैं, तब भी मिट्टी हुए जाते हैं। उनका कहना था कि यदि वह इतनी ख़ुराक न खाएँ, तो बस ढेर हो जाएँ। लेकिन मुश्किल यह थी कि वह ख़ुराक हजम ही न होती—खट्टी डकारें आतीं। छाती पर पत्थर पड़ा रहता।

जब वह भाई मेरे पास आए तो मैंने देखा कि रोग की मानसिक पृष्ठ-भूमि से दुःखी हैं। ज़ुकाम की चर्चा हम खुले आम कर सकते हैं, पेट-दर्द की शिकायत भरी सभा में की जा सकती है; लेकिन धातु-पतन की बीमारी की चर्चा करके क्या कोई 'भला आदमी' भला-आदमी रह सकता है? समाज के इस अभिशाप के कारण पिछले दिनों देश का एक अन्यतम सेवक, जिसकी हिम्मत उसे देश के कला-कौशल के अभाव की पूर्ति के लिये जापान ले गई थी—अकाल-मृत्यु से मर गया—हाँ, अपनी समझ में उस भाई ने बड़ी ही हिम्मत और निर्लज्जता का काम किया था, जब मुझे आकर अपनी बात कही। उन्हें वैसा करने की ज़रूरत न थी। क्योंकि आख़िर शरीर के सभी अंगों के रोग रोग ही हैं। उनमें कौन अच्छा और कौन बुरा? मैंने उन्हें अपनी समझ के अनुसार चार बातें कहीं:—

(क) जो खाते हो तुम्हें वह आगे ही हज़म नहीं होता, तुम ख़ुराक खाने के मिथ्या-विचार के वशी-भूत हो यह जो आध आध पाव घी और सेर सेर भर दूध पीते हो—एक दम छोड़ दो।

(ख) तुम सुबह भींगे हुए चने खाओ और उनका पानी पीओ।

(ग) रात को पैर धोकर सोओ और पेड़ू पर मिट्टी की रोटी रक्खो।

(घ) किसी नाँद में बैठ कर ही सही, पेड़ू स्नान लो।

उसने यह सब करना आरम्भ किया। पेड़ू-स्नान शायद कभी नहीं ले सका। चना अभी पिछले दिनों तक खाता रहा है। फिर उसने कभी अपने रोग की शिकायत नहीं की। मैंने भी जान-बूझ कर नहीं पूछा—अनुमान लगा लिया कि अवश्य लाभ हुआ होगा।

× × ×

अभी उस दिन हमारे अपने एक कर्मचारी को एक बिच्छू काट गया। बड़ी लहर उठ रही थी। जब किसी दवाई से कुछ न हुआ तो लोग उसे मेरे पास ले आए। मैं साधारण तौर पर बिच्छू के कटे पर पान का पत्ता और हींग पिसवा कर बँधवा देता हूँ। उससे लाभ होता है। उस दिन हींग न मिलती थी। कई दवाइयों का प्रयोग असफल हो चुका था। मैंने कहा—चलो, इस पर भी मिट्टी। आदमियों में वह भाई भी थे, जिनके रोग का ऊपर ज़िकर किया है। वे बोले—'स्वामी जी के पास एक मिट्टी है। बस, जादू करती है।' मैं समझ गया कि तीर ठीक निशाने पर लगा है।

बिच्छू के दर्द पर मिट्टी के प्रयोग से तत्काल पूरा लाभ नहीं हुआ: लेकिन जलन अवश्य कुछ कम हो गई थी।

किसी जोहड़ या तालाब की शुद्ध चिकनी मिट्टी! घर में ही भिगोकर रक्खी हुई मिट्टी! समय पर ही कूट भिगो कर तैयार कर ली गई मिट्टी! मैं जानना चाहता हूँ कि तू मिट्टी है या सोना? तेरी प्रशंसा में तुझे सोना बनाना अधिक ठीक है वा सोने की प्रशंसा में उसे मिट्टी कहना!

सोने में वह गुण कहाँ, जो मिट्टी में!

केवल तीन ख़त

विद्यार्थी जीवन में मुझे इस बात का अभिमान था कि मैं न कभी कोई उपन्यास पढ़ता हूँ न नाटक। अच्छे लड़कों को उपन्यास, नाटक पढ़ना न चाहिए। एक मित्र ने बड़ी कोशिश से मेरे गले यह बात उतारी कि सभी नाटक, सभी उपन्यास हेय नहीं हैं। उन्होंने कहा कि तुम प्रेमाश्रम और सेवा-सदन पढ़ कर देखो तो तुम्हारी सम्मति बदल जायगी। मैंने उन्हें पढ़ना शुरू किया; मुझे अच्छे लगे। लेकिन चूंकि मैं इतनी जल्दी हारने, कम से कम, हार मानने के लिये तैयार न था, मैंने बिना समाप्त किये ही उन्हें रख दिया।

अब मैं इस बात पर अभिमान करने लगा कि मैं प्रेमाश्रम और सेवा-सदन जैसे उपन्यासों को बिना समाप्त किये छोड़ सका। पर जिसे मैं अपनी जीत घोषित करता था वह थी मेरी हार। प्रेमाश्रम और सेवा-सदन का जादू मुझ पर असर कर गया था।

कुछ ही दिन बीतने पाये थे; न जाने कब और कैसे मैंने मन को समझा लिया। एक दिन मेरे हाथ चुपके से फिर प्रेमाश्रम और सेवा-सदन उठा लाये और मुझको होश तब आई जब मैंने दोनों को समाप्त कर दिया। 'कर्मभूमि' 'कर्बला' 'वरदान'—अब जो मिलता वह पढ़ता और कहा करता कि जो बातें धर्म ग्रन्थों में नहीं हैं वह प्रेमचन्द के उपन्यासों में हैं। धर्म-ग्रन्थ उपदेश देकर तबियत को चिढ़ाते हैं, प्रेमचन्द उपदेश न देकर उपदेश दे जाते हैं।

किसी समय उपन्यास नाटकों से नाक भौं सिकोड़ने वाला विद्यार्थी अब प्रेमचन्द की भाषा और उनके भावों की प्रशंसा करते न अघाता था। वह उनके किसी भी ग्रन्थ को लेकर बैठता, काग़ज़-क़लम उसके हाथ में रहती—न जाने कहाँ कौन अनमोल रत्न मिल जाय! रत्नों की उन चुस्त वाक्यावलियों में क्या कमी थी! × ×

सन् १६२८ से ३५ तक के साल मेरे जीवन के जलावतनी के साल रहे हैं। इधर सिंहल, बर्मा, स्याम और यूरोप के एक दो देशों में ऐसा भटकता रहा कि कभी-कभी किसी मासिक पत्र में प्रेमचन्द जी की कोई रचना पढ़ लेने के अतिरिक्त सिलसिले से कुछ न पढ़ सका। सन १६३५ में जब कुछ स्थिरता के साथ सारनाथ में रहने लगा तब सुना कि हमारे महाबोधि विद्यालय में एक विद्यार्थी है जो प्रेमचन्द जी का सम्बन्धी है और जो उनका पत्र लेकर विद्यालय में भर्ती होने आया था। प्रेमचन्द जी का कोई अपना हमारे विद्यालय में पढ़ता है, सुन बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने चि० कृष्णचन्द्र को बुलवा भेजा और उससे पता लगा कि सारनाथ से कुल डेढ़ दो कोस की दूरी पर लमही में प्रेमचन्द जी रहते हैं और आजकल घर पर ही हैं। मैंने धर्मदूत* के दो-तीन अङ्कों के साथ चि० कृष्णचन्द्र के हाथ पत्र भेजा। अगले दिन उत्तर मिला—

२५-८-३५

'प्रिय कौसल्यायन जी, बन्दे!

तीनों अङ्क मिले। अनेक धन्यवाद। मैं दिन भर घर पर रहता हूँ। इस मास के अंत तक बाहर जाने वाला हूँ। मकान ले रखा है। आप आने का कष्ट करें तो बड़ी कृपा हो।

भवदीय

प्रेमचन्द।'

पत्र पाकर हृदय में बड़ी गुदगुदी उठी। इतनी आसानी से इतने बड़े कलाकार के दर्शन करने को मिलेंगे। वह कैसे होंगे? किसी के लेख में पढ़ा था कि खद्दर का कुर्ता पहिने दिन भर काग़ज़ पर क़लम दौड़ाया करते हैं। उनका अमूल्य समय मैं लूँगा, क्यों लूँगा? तो न जाऊँ? लेकिन बिना जाये कैसे रह सकूँगा? यदि आज इस इच्छा को दबा लिया, तो यह कल फिर तंग करेगी। ऐसी हालत में अच्छा है कि आज इसे पूरा कर ही लिया जाय। लेकिन कुछ-न-कुछ बात जो

*सारनाथ से 'धर्मदूत' नामक एक छोटा-सा पत्र निकलता है।

करनी होगी। इच्छा तो केवल यह थी कि एक-आध घंटा मुझे चुपचाप उनके पास बैठे रहने भर की छुट्टी मिल जाय; लेकिन चुपचाप कौन किसे बैठने देता है—इस सभ्यता के युग में!

सोचा, तो कुछ प्रश्न ले चलूँ। लेकिन प्रश्न करने के लिए भी तो अक़ल चाहिए, ज्ञान चाहिए, और ईजानिब हैं 'साहित्य-संगीत-कला विहीनः'। इस तरह के नाना विचार उठते रहे और स्कूल की छुट्टी हो गई। चि० कृष्णचन्द्र ने पूछा—'चलेंगे?' मैंने कहा 'हाँ' और साथ हो लिया।

× × ×

खेतों की मेड़ों पर बड़ी सावधानी से चलते हुए, कहीं-कहीं बरसाती पानी के छोटे-छोटे गड्ढों को फाँदते-लाँघते मग़रिब में डूबते सुनहरी सूर्य की किरणों का आनंद लूटते उस समय घर पहुँचा जब सूर्य अस्त हो रहा था, हो चुका था। कृष्णचन्द्र ने जाकर ख़बर दी। अन्दर से कुण्डी खटकी और सामने की बैठक का दरवाज़ा ऐसे खुला जैसे कोई परदा हटा हो। उसके पीछे से एक हँसती हुई मूर्ति ने ऐसे अपनेपन से मेरा स्वागत किया कि मुझे अपनी बेवक़ूफ़ी पर हँसी आने लगी, ऐसी घरेलू तबियत के आदमी से मिलने के लिये इतनी उधेड़बुन! उन्होंने बात छेड़ी—शायद राहुल जी का हाल पूछा, मैंने उत्तर दिया। सिंहल साहित्य की बात चली और फिर तो प्याज के छिलकों की तरह एक बात में से दूसरी बात ऐसी निकलती गई कि कितना ही समय व्यतीत हो गया और पता ही नहीं लगा। एक बार ईश्वर की चर्चा भी चली। उन्होंने कहा 'जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, वह भी किसी स्वजन के मरने पर रोते हैं; जो मानते हैं उनसे भी बिना रोये नहीं रहा जाता। ऐसी हालत में ईश्वर के मानने का फ़ायदा?' मुझे पता लगा कि हमारा कलाकार निरंतर विकसित हो रहा है। उस दिन लौटते समय अंधेरे और बरसात के कारण रास्ते में कुछ कष्ट हुआ, काफ़ी कष्ट हुआ, लेकिन उससे तो तीर्थयात्रा का पुण्य ही बढ़ा।

× × ×

सिंहल-प्रवास के कारण मुझे वहाँ की भाषा और साहित्य का कुछ ऊपरी ज्ञान हो गया है। जिस समय भारतीय साहित्य-परिषद के मुख-पत्र के रूप में 'हंस' निकलना आरम्भ हुआ, मुझे ख़्याल आया कि सिंहल साहित्य का भी उसमें कुछ स्थान रहना चाहिए। एकाध सिंहल कविताओं के अनुवाद 'हंस' में छपे। एक दिन मैंने श्री नन्द-दुलारे बाजपेयी का एक विचारपूर्ण लेख पढ़ा, जिसका शीर्षक था 'बुद्धिवाद'। मुझे अच्छा लगा। उसमें बुद्ध-विचार के बारे में कुछ विचार थे। उनके विचारों के सम्बन्ध में एक छोटा सा नोट लिखकर उस चर्चा को आगे बढ़ाने का अपना लोभ संवरण न कर सका। 'बुद्ध का बुद्धिवाद' शीर्षक से मैंने काँपते हाथों कुछ पंक्तियाँ लिखीं—किसी के विचारों की आलोचना करना और उसको भरसक कटु न होने देना कठिन अभ्यास-साध्य कार्य है। और उन्हें सम्पादक 'हंस' के पास भेज दिया। मैं उन दिनों सिंहल में था। लौटती डाक से प्रेमचन्द जी ने उत्साह बढ़ाया—

१४-२-३६

प्रिय आनन्द जी!

आपका नोट मिला। धन्यवाद। इसकी ज़रूरत थी। छापूँगा। हाँ, सिंहल साहित्य के विषय में अगर कोई लेख भेज सकें तो बड़ा अच्छा हो। इसे तो हम कुछ जानते ही नहीं। उसका कुछ आलोचनात्मक इतिहास ही हो तो कोई हर्ज नहीं। अगर इंगलैंड जायें तो वहाँ से 'बौद्ध साहित्य' पर एक अच्छा सा लेख लिखें, केवल उसके धर्म साहित्य पर नहीं, बल्कि बौद्ध कालीन साहित्य पर। ऐसे लेख की बड़ी ज़रूरत है। आशा है आप प्रसन्न हैं।

आपका

प्रेमचन्द।'

मैंने हिन्दी पत्रों में अधिक लेख नहीं लिखे; इस लिये अपने सम्पादक-प्रवरों से कोई विशेष पत्र व्यवहार भी नहीं रहा। लेकिन जिन-जिन सम्पादकों ने कभी-कभी कुछ लिख कर मुझे उत्साहित किया

है उनमें कभी किसी ने इतनी नपी-तुली उत्साहवर्धक पंक्ति नहीं लिखी—'आपका नोट मिला। धन्यवाद। इसकी जरूरत थी। छापूंगा।'

× × ×

दूसरी बार इंगलैंड जाने का विचार छोड़ कर मैं सिंहल से वापस सारनाथ चला आया। एक दिन मुझे भारतीय साहित्य-परिषद के मंत्री की चिट्ठी मिली जिसका मतलब था कि यदि कोई आपत्ति न हो तो वह मुझे भा० सा० परिषद का सभासद बना लेना चाहते हैं। हिन्दी-भाषा-भाषियों में सिंहल साहित्य से कुछ परिचय रखने वाला—यही अपने राम की विशेषता समझी गई होगी। मैंने धन्यवाद पूर्वक प्रतिज्ञापत्र भर कर लौटा दिया। किसी भी संस्था का सभासद बनते समय एक भिक्षु के लिये जो बात विचार लेने की होती है, वह चन्दे की है। सो इसमें न था। भा० सा० परिषद के उद्देशों से मेरी सहानुभूति थी और है, तथा मैं श्रद्धापूर्वक कुछ सेवा करना चाहता था और चाहता हूँ। सभासद बनने के बाद मेरे पास भा० सा० परिषद के मंत्री के हस्ताक्षर से कभी-कभी पत्र आने आरम्भ हुए—लेकिन सभी अंग्रेजी में। सम्भव है कभी कोई हिन्दी में आया हो, लेकिन दिमाग़ पर ज़ोर डालने पर भी तो याद नहीं आ रहा है। मैं स्वयं अंग्रेज़ी में पत्र लिखता; कभी-कभी भारत में भी और वैसे भारत के बाहर। जो दो चार भाषाएँ जानता हूँ. उन सब में समय समय पर पत्र लिखते रहना चाहता हूँ—कम से कम इसी ख़्याल से कि अभ्यास बना रहे। लेकिन भा० सा० परिषद के मंत्री तो बिल्कुल दूसरी चीज़ हैं। वह अपने व्यक्तिगत पत्र चाहे जिस भाषा में ही लिखे लेकिन भारतीय साहित्य परिषद के मंत्री के पत्र तो उसे हिन्दी में और केवल हिन्दी में लिखने व लिखवाने चाहिये। हिन्दी में न लिख कर यदि किसी अन्य भारतीय भाषा में लिखे तो भी मुझे आपत्ति नहीं, लेकिन भा० सा० परिषद का मंत्री और पत्र लिखे एक अभारतीय भाषा में, और ऐसी अभारतीय भाषा में,

जिसकी मानसिक गुलामी से देश को मुक्त करना हमारी राष्ट्रीय समस्या है। कुछ इसी प्रकार के विचारों से क्षुब्ध होकर मैंने प्रेमचन्द जी को एक पत्र लिखा। उत्तर मिला—

प्रिय आनन्द जी!

क्या आप समझते हैं, अंग्रेज़ों की गुलामी से भारतीय परिषद् मुक्त है? जब कांग्रेस की सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेज़ी में होती है, तो भारतीय परिषद तो उसी का बच्चा है। मन्त्री जी हिन्दी नहीं जानते, मगर हिन्दी के भक्त अवश्य हैं। अगर आप ऐसे भक्तों को दबायेंगे तो वह भाग खड़े होंगे।

'हंस' सितम्बर से सस्ता साहित्य देहली से प्रकाशित होगा। मैंने उसके सम्पादन से इस्तीफ़ा दे दिया है। मैं इधर एक महीने से बीमार हूँ।

अगर अच्छा हो गया तो यहाँ से अपना एक नया पत्र प्रागतिक लेखक-संघ की विचार-धारा के अनुसार निकालूँगा।......

मुझे आशा है, इस नई योजना में मैं आपकी मदद पर भरोसा कर सकूँगा।

प्रेमचन्द

इस पत्र को उद्धृत कर चुकने पर मन में इतने भाव उठ रहे हैं। कि आगे कुछ लिखा नहीं जाता। उस दिन बीमारी की अवस्था में मैं कविवर मैथिलीशरण जी के साथ जो उनके दर्शन कर आया, बस वही अंतिम दर्शन रहे। 'अगर अच्छे हो जाते—' तो उनकी अंत के दिनों की इच्छा थी 'एक नया-पत्र प्रागतिक लेखक-संघ की विचार-धारा के अनुसार निकालने की।' मुझे यह देखकर संतोष और हर्ष हो रहा है कि माता शिवरानी देवी 'हंस' को चलाये जा रही हैं। उसका यद्यपि नाम पुराना ही है, लेकिन है वह प्रेमचन्द जी का 'नया पत्र।'

मुझसे उसकी जो 'मदद' बन सकेगी, वह मेरा सौभाग्य होगा।

ओम् इवैक्वी *

मैंने कभी किसी बड़े-से-बड़े नेता की भी इण्टरव्यूव नहीं ली, लेकिन इस चौदह वर्ष के बालक—ओम् इवैक्वी—की इण्टरव्यू लिये बिना मुझसे नहीं रहा गया।

आप कभी मूसलाधार वर्षा में भीगते-भीगते भाग कर घर में घुसे हैं? यह बालक कुछ कुछ उसी प्रकार जापानियों की बमवर्षा में से बच कर सारनाथ तक आ पहुँचा है। यह शरीर से पतला-दुबला है, आयु इस समय चौदह वर्ष की होगी; नाम है ओम्। मैंने उससे उसकी पूरी चौदह वर्ष की आत्मकथा जानने को कोशिश की। ये सतरें उसी का परिणाम हैं।

मैं—ओम्! तुम्हारा जन्म किस वर्ष का है?

उसने हिसाब लगाकर बताया—१९२९ का।

जापानी आक्रमण के समय वह केवल १२ वर्ष का रहा होगा।

मैं—और तुम्हारा जन्मस्थान?

उसने एटलस में दिखाया—लोअर बर्मा का हैनजडा नगर।

मैं—तुम्हारे पिता क्या काम करते थे?

ओम्—मेरे पिता श्री हार्टनोल नाम के फारेस्ट-कमिश्नर के पास 'ब्वाय' का काम करते थे—मेम्यो में।

मैं—क्या तुम उनके पास रहते थे?

ओम्—नहीं, मैं तो अपने जन्म-गांव में अपनी माँ तथा बहनों के ही साथ रहता था।

मैं—तो तुम्हारी पढ़ाई तुम्हारी जन्मभूमि में ही हुई होगी?

ओम्—हाँ, मैं वहाँ अमरीका-बर्मा मिशन गर्ल हाई स्कूल में लड़कियों के साथ चौथे दरजे तक पढ़ा। बर्मा, अंगरेज़ी, गणित, भूगोल, इतिहास पढ़ता था। तीन साल में चार दर्जे पास किये। खेलने का अधिक शौक था। प्रायः बाहरी खेल।

---

*इवैक्वी=शरणार्थी

मैं—तुम्हारे अध्यापक कौन थे ?

श्रोम्—हमारे स्कूल में औरतें पढ़ाती थीं। हेडमास्टर बर्मी था, किन्तु अध्यापक सब ईसाई थे।

मैं—क्या तुम स्कूल में ही रहते थे ?

श्रोम्—नहीं, मैं घर से पढ़ने जाया करता था। हमारा अपना घर था, खेत था। खेत पर नौकर काम करते थे। मेले आदि में दुकान भी करते थे—तीन बड़ी बहनें दुकान देख लेती थीं।

मैं—जब तुम पढ़ने जाते थे, उस समय क्या सोचा करते थे ?

श्रोम्—मैं सोचा करता था कि पढ़कर कोर्ट में क्लर्क बनूँगा।

बर्मा के किसी कोर्ट में क्लर्क बनने की इच्छा रखनेवाला लड़का अभी तो सारनाथ में पढ़ रहा है। देखना है भविष्य उसे क्या बनाता है ? कुछ विशेष अवश्य।

मैं—तो तुम गाँव पर रहे और तुम्हारे पिता दूर मेम्यो में ?

श्रोम्—नहीं, पीछे मैं अपने पिता के पास मेम्यो चला गया था। वहाँ आठ मास ही रहा होऊँगा कि जापानी आक्रमण हो गया। जापानी आक्रमण क्या हुआ—मेरा सब कुछ मुझसे सदा के लिये छूट गया।

मैं—तो पहले जापानी आक्रमण कहाँ हुआ ?

श्रोम्—पहले जापानी आक्रमण दक्षिण में हुआ और फिर माण्डले के बाद उसके उत्तर मेम्यो में। जिस समय जापानी आक्रमण होने को था, अंग्रेज़ों ने अपनी सब मेम साहब लोगों को कलकत्ते भेज दिया। हमारे अपने घर में पिता, साहब और मैं बचे।

मैं—जिस समय बम गिरा उस समय तुम कहाँ थे ?

श्रोम्—कहाँ क्या, गड्ढे में छिपे थे। हमारे साथ तीन और नौकर थे। जिस समय जापानी बम गिराकर चले गये, ए० आर० पी० वालों ने चटाई के घेरे बनाये और सब मुर्दों को उठा-उठा कर उन घेरों में डाल दिया। जो ज़ख्मी थे उन्हें उठाकर अस्पताल ले गये। अस्पताल जङ्गल में था।

मैं—तुम्हारे ख़्याल में मेम्यो पर बम कब गिरा होगा ?

ओम्--मुझे याद है १५ अप्रैल १९४२ को।

मैं--तबसे तुम वहीं रहे ?

ओम्--वहाँ कैसे रह सकते थे ? मिलिटरी की ओर से एक मोटर मिली। उसमें हम छः आदमी और हमारे साथ तीन कुत्ते बैठ कर भागे। कुछ दिन मोटर में चलते रहने के बाद एक दिन मोटर ने एक पहाड़ से टक्कर खाई। दो कुत्ते गिर पड़े, एक पहाड़ से बहुत नीचे और दूसरा नीचे सड़क पर। किन्तु दोनों बच गये। आगे फिर रात में एक जगह मोटर उलटते उलटते बची। जैसे तैसे भामो पहुँचे। वहाँ से दरिया पार करके रेल से मिचीना।

मैं—तुम्हारे साहब तुम्हारे साथ ही रहे ?

ओम्—हाँ, वह मिचीना में ही हमसे बिदा हुए। उन्होंने एक अपने लिए और दो हमारे लिए—तीन टिकट हवाई जहाज़ से कलकत्ता आने क खरीदे। पहले हवाई जहाज में तीनों के लिए जगह न थी। साहब ने कहा—तुम अगले हवाई जहाज़ से चले आना। वह स्वयं पहले से ही चले गये। बाद में दो हवाई जहाज़ आये। एक में रोगियों को चढ़ाया ही था कि जापान के दो हवाई जहाज़ों ने चक्कर लगाया। क्या करते, सब लोगों के साथ हम भी गड्ढों में जा छिपे। जापानी हवाई जहाज़ चला गया। तब हम लोग बाहर आये। रोगियों का हवाई जहाज़ उड़ने की तैयारी में था। तब तक जापानी जहाज़ फिर और उसने बम गिराये। हम बाप बेटा एकदम सोगये। जापानियों ने मशीनगन चलाई। मिलिटरी वाले लोगों के ऊपर से मोटर चलाकर भागे जा रहे थे। इसी बीच में अंग्रेज़ों का एक हवाई जहाज़ खराब हो गया। जब जापानी जहाज़ चला गया तब हम उठे और भागे।

मैं—कहाँ ?

ओम्--अपने बङ्गले की ओर। मेरे बाप की आयु कोई ६० वर्ष की थी। हमें तीन मील दौड़ना पड़ा--एक साँस में।

मैं—तब ?

ओम्—तब क्या, रोगी-जहाज़ फिर उड़ने लगा। जापानी फिर आ

धमका और उसने बम गिराया। यह बात कोई सवेरे दस बजे की है। जो अँगरेज़ी जहाज़ बिगड़ गया था और यह जो रोगी-जहाज़ था, दोनों में आग लग गई।

मैं--रोगियों का क्या हुआ होगा?

ओम्--भुन गये होंगे, और क्या? दो बजे के करीब कोई सात जापानी जहाज़ आये और सारे मिचीना पर बम गिराये। हम बाप-बेटा फिर गड्ढे में जा छिपे। आसपास के सब घर जल गये। मिचीना से लोग मोगो की तरफ़ भागे। दूसरे दिन भागने से पहले अँग्रेजों ने भी मिचीना को खूब जलाया। हम बाप-बेटा स्टेशन की ओर गये। वहाँ मालगाड़ियाँ खड़ी थीं, जिनमें तरह तरह का सामान था। हमने दो बरसातियाँ लीं और खाने-पीने का सामान जितना ले सकते थे उतना लिया। बंगले पर लौटकर गठरी बांधी। मिचीना में जो यूरोपियन थे वे मोटरों में बैठ बैठ कर भाग रहे थे। बहुत प्रार्थना की, हमें भी ले चलो। किसी ने नहीं बिठाया। तब हम भी जिधर सूझा उधर चल दिये। एक सड़क लोग बताते थे, भारत की ओर जाती है। उस पर कुछ आदमी जा रहे थे। हमने भी उनका पीछा किया।

मैं—तब तुम्हारे पास क्या-क्या सामान था? कुछ रुपया-पैसा था?

ओम्—हाँ, हमारे पास २००) थे। लेकिन उस समय रुपयों-पैसों से ही क्या होता था? हम सात दिन बराबर उस सड़क पर चलते रहे। भूख लगने पर थोड़ा थोड़ा भात–पानी में कहीं कहीं चावल के कुछ दाने–उबालकर पीते। पानी काफी मिल जाता था। सड़क के किनारे रहने वाले कोई कोई गोरखा कुछ चावल भी बेच देते थे। अंग्रेज़ पीछे भागते समय रास्ते के पुलों को तोड़ डालते थे। हमारे लिये यह ज़रूरी था कि हम उनके पुल तोड़ने से पहले-पहले निकल चलें। इसलिये रात-दिन चलते थे। १०९ मील चलने पर 'इण्डिया-रोड' साइन-बोर्ड लगा हुआ मिला। एक रात आराम करके 'इण्डिया-रोड' पर चलना शुरू किया।

मैं—लगभग कितने दिन 'इण्डिया-रोड' पर चलना पड़ा।

ओम्—ठीक नहीं कह सकता। बहुत दिन। एक दिन पाँच हवाई जहाज़ों द्वारा जलाया गया बंगला मिला। आदमी कटे मरे पड़े थे। मिचीना में जब मैं अपने बाप के साथ बंगले की ओर भागा था, तब मुझे कटे-मरे आदमियों के ऊपर से ही भागना पड़ा था।

सामान्य खून को भी देख कर घबरा जाने वाले लोगों में मैं अपनी गिनती करता हूँ। मैं सोचने लगा कि कटे-मरे लोगों पर से यही बारह वर्ष का बालक दौड़ रहा होगा, अपनी जान को अपने सिर पर लेकर! किन्तु भावनाओं को रोक कर मैंने पूछा—हाँ; तब।

ओम्—हम इस प्रकार कोई एक महीना 'इण्डिया-रोड' पर चलते रहे। पहाड़ थे, जंगल थे, खाने का हर जगह अभाव था। रास्ते में जगह जगह लोग मरे पड़े थे। एक महीने के बाद पिता को बुखार आने लगा। वह मुझसे छिपाते थे, बताते नहीं थे। मैंने समझा—मलेरिया है। एक छोटे से कैम्प में एक दिन पिता लेट गये। दो दिन वैसे ही लेटे रहे। उस पहाड़ पर बहुत ढूँढ़ने पर भी दोनों दिन पानी नहीं मिला। तीसरे दिन उस कैम्प में कोई आदमी नहीं रह गया था—मेरे और पिता के सिवा। पास में एक मुर्दा पड़ा था, जिसकी बदबू के मारे आफ़त थी। रात को स्वप्न देखा—माता-पिता सामने खड़े हैं। आँख खुल गई। देखा, पिता की साँस नहीं सुनाई दे रही है। घबराया; पास जाकर देखा—पिता अन्तिम साँस ले चुके हैं। मैं जैसे-तैसे करके फिर सो गया, यही मनाता हुआ कि यह स्वप्न सिद्ध हो। सुबह आँख खुली तो पिता जैसे-के-तैसे लकड़ी हुए पड़े थे। स्वप्न सिद्ध न हुआ। उस दिन मैं अपने माता-पिता को याद करके उस जंगल में खूब ही रोया। यह बात कोई २० मई के आस-पास की होगी। आखिर क्या करता? बहुत रो-धोकर मैंने अपने पिता की लाश को तीन बार प्रणाम किया और उनसे विदा ली। उनके पास जो कुछ था, मैंने उसमें से किसी चीज़ को हाथ भी नहीं लगाया।

मेरा दिल भर आया और आँखें भी। मैंने दोनों को ओम् से

छिपाते हुए कहा—ओम् ! अब आगे की बात कल सुनूँगा।

× × ×

कुछ दिन के बाद फिर हम एक दिन बैठे। मैंने कहा--ओम् ! अब बताओ भारत कैसे पहुँचे ?

ओम्—पिता के मुझे जंगल में अकेला छोड़ जाने के बाद मेरे दिल में एक आवेश सा था। सोचता था—भारत कितनी दूर है, पहुँच ही जाऊँगा। चलना ही होगा। इसलिये चलता जाता था। एक दिन एक कैम्प मिला। सुना, यहाँ कुछ खाने को मिलता है। माँगने पर केवल चाय की पत्ती मिली ! एक दिन कुछ बर्मी मिले। उन्होंने थोड़ा खाना दिया। आगे बढ़ने पर वर्षा होने लगी। रास्ता अनेक जगहों पर फिसलन का था। बड़े-बड़े पहाड़। सर्दी खूब। कभी कभी पहाड़ से नीचे उतरते समय जड़ें पकड़ पकड़ कर उतरना होता था। मैंने अनेक लोगों को पहाड़ के नीचे पड़े देखा। मेरे पास एक कम्बल था, एक बरसाती थी और एक बड़ा चाकू--छोटी तलवार ही कहिये। उसी से जंगल की लकड़ी को काट कर आपस में बाँधकर एक मचान-सा बना लेता और उसी पर कम्बल में लिपट कर सो जाता, ऊपर से बरसाती ओढ़कर। इसी प्रकार चलते रहने पर एक दिन, जब बहुत भूख लगी थी लाल रंग का कोई फल खा लिया। खाते ही न जाने क्या हो गया ! आँख खुली तो अँधेरा हो गया था। रात भर पड़ा रहा। दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर चलने पर एक छोटी नदी मिली। लोगों ने बाँस बाँध कर नौका-सी बनाई थी। मैंने भी उनके साथ उसी पर नदी पार की।

मैं--सचमुच तुम बड़े बहादुर हो, अकेले यह सब सहते रहे।

ओम्--हाँ, अभी तक तो मैं अकेला था, लेकिन अब मेरा एक साथी हो गया। नदी पार कर तीन चार दिन चलने के बाद मैंने एक साहब के पास अपने साहब का कुत्ता देखा—एक दम सफ़ेद रंग का। मैंने उसे जितना पहचाना; उससे अधिक उसने मुझे पहचान लिया। साहब को भी खाना नहीं मिलता था। वह कुत्ते को क्या खिलाता ?

मेरे बहुत आग्रह करने पर उसने हमारे साहब का कुत्ता मुझे दे दिया। अबसे मैं और मेरा कुत्ता दोनों साथी थे—खाने में भी आधे-आधे और भूखे रहने में भी।

मैं—तुम और तुम्हारा साथी कितने दिन एक साथ रहे ?

ओम्—दस-बारह दिन इसी तरह चलते रहने पर कहीं-कहीं कुछ कैम्प मिलने लगे, जहाँ खाना बँटता था और बता दिया जाता था कि आगे छः-सात मील चलने पर दूसरा कैम्प मिलेगा। रास्ता बहुत ख़राब था। हज़ारों आदमी रास्ते में ही जान दे रहे थे। कहीं कोई बहुत बड़ा गड्ढा मिलता तो मैं एक डंडा खड़ा कर देता कि पीछे आने वाले उस जगह से बचें। रास्ता इतना ख़राब था कि दिन में पाँच मील से अधिक नहीं चला जा सकता था। जब हम इधर 'इंडिया रोड' पर बढ़े चले आ रहे थे, हमें हजारों चीनी सिपाही मिले जो बर्मा की ओर जा रहे थे। आगे जाने पर एक दिन वे यूरोपियन मिले जो मिचीना से भाग आये थे और लाख मिन्नत पर भी जिन्होंने हमें साथ बैठाना स्वीकार नहीं किया था। थोड़ी दूर और आगे एक जगह हवाई जहाज़ से खाना गिराया जाता था। टूटने-फूटने वाली चीज़ छतरी से उतारी जाती थी। वहाँ से सामान लेकर दो दिन पका कर खाया।

मैं—अभी भी तुम भारत नहीं पहुँचे थे ?

ओम्—मैं ठीक नहीं कह सकता कि मैं कब और कहाँ भारत की सीमा में दाख़िल हो गया। एक कैम्प मिला जहाँ नागा लोग रहते थे और उनके साथ ब्रिटिश सिपाही। ब्रिटिश सिपाही उनसे भागे हुए लोगों द्वारा फेंकी हुई राइफलें आदि ढूँढ़वाने का काम लेते थे, जिन्हें इकट्ठा कर आसाम भेज दिया जाता था।

मैं—तो, अब तो तुम नागा पहाड़ियों में पहुँच गये होगे ?

ओम्—हाँ, नागा पहाड़ियों में मैं तीन-चार दिन चलता रहा। ऊँचे ऊँचे सुन्दर पर्वत। ठण्डक ख़ूब। सात-सात मील पर कैम्प मिलने लगे जहाँ पका हुआ खाना बटता था। एक दिन चलते-चलते रेल दिखाई दी।

मैं—तब तो तुम्हें खुशी हुई होगी !

ओम्—खुशी क्या, पता ही नहीं कहाँ जा रहा था। एक छोटी रेलगाड़ी के पास अपने पहने हुए कपड़े उतार देने पड़े। दूसरे मिले। हांडी आदि भी छोड़ देनी पड़ी। तलवार भी छीन ली गई। बरसाती, कम्बल पास रहने दिया। मील भर गाड़ी में चलकर एक बस्ती देखी। सब लोगों के साथ वहाँ एक कैम्प में रहना पड़ा। खाना—रोटी, चाय सब मिला। अगले दिन एक लम्बी गाड़ी में बिठाकर रवाना कर दिया गया। रास्ते में स्टेशनों पर खाना मिलता रहा। जहाँ जाकर उतरा वह एक बड़ा शहर था—नदी के तट पर।

मैं—गोहाटी होगा !

ओम्—हाँ, गोहाटी ही हो सकता है। वहाँ मुझसे पूछा गया कि कहाँ जाओगे ? मैंने कहा—कलकत्ता। नाम सुन रखा था। टिकट मिला और कपड़े भी—पैंट, कमीज़। वहाँ जहाज़ पर चढ़ा दिया गया। जहाज पर प्रायः दो दिन रहा। जहाज़ पर था तो जहाज़ के साहब ने कहा—हमारे साथ रहो। हम पढ़ायेंगे। मैंने कहा—मैं तो कलकत्ते में जो दोमंज़ली बसें चलती हैं उन्हें देखने के लिए जाऊँगा। सोचता था, कैसी होती होंगी दो-दो मकानों जितनी बसें और कैसे चलती होंगी !

मैं—तब तुम कब कलकत्ते पहुँचे ?

ओम्—शायद तीन-चार दिन बाद कलकत्ता पहुँचा। मेरा कुत्ता मेरे साथ था। हमें हवड़ा स्टेशन पर एक कैम्प में खाना दिया गया। सब लोगों को आश्चर्य था कि मैं यहाँ तक निरोग कैसे पहुँचा, क्योंकि प्रायः सभी या तो जख्मी थे, या ज्वर आदि से पीड़ित। वहाँ सब को सुई लगाई जाती थी। मैंने नहीं लगवाई।

मैं—तो कलकत्ते पहुँचकर तुमने दो मंज़ली बसें देखीं !

ओम्—कलकत्ते पहुँचकर मैंने पहला काम यह किया कि मेरे पास जो लगभग २००) थे, उनसे तीन-चार दिन तक जो खाने की इच्छा हुई वह खाता-पीता रहा।

न जाने कितने दिन से खाने-पीने की अतृप्त इच्छा तृप्ति का मार्ग खोज रही थी !

मैंने पूछा--कलकत्ते में तो तुम किसी को भी न जानते होगे, तब कहां रहे ?

ओम्—जब मैं वर्मा में था तो मुझे पता था कि हमारा साहब कलकत्ते के लायस-बैङ्क (लायड्स बैङ्क) में अपना रुपया जमा करता है। साहब का नाम मुझे मालूम ही था। रात में सोचते सोचते यह बात सूझी कि यदि 'लायस-बैङ्क' का पता लग जाय तो वहाँ से साहब का भी पता लग जा सकता है। दूसरे दिन मैंने 'लायस-बैङ्क' खोजना आरम्भ किया। ट्रेम वाले ने जहाँ एक जगह उतार दिया था वहाँ दो तीन घण्टे सब मकानों के बोर्ड पढ़ते रहने पर एक जगह--'लायस-बैङ्क' दिखाई दे गया। मैं बैङ्क के अन्दर गया। हमारे साहब ने हमें एक चिट्ठी दे रखी थी, जिससे हमारी पहचान हो सके। मैंने बैङ्क के साहब को वह दिखाई और जैसे-तैसे अपनी सब बातें समझाई। उसने मुझे ५) दिये और एक चिट के साथ "कोस्क एण्ड किंग कम्पनी" के पास जाने को मुझसे कहा। वहाँ की मैनेजर एक मेमसाहब थीं। उन्होंने मुझसे अंग्रेजी में सब हाल पूछा। मैंने टूटी-फूटी अंग्रेजी में सब हाल कहा। उन्होंने हमारे साहब को, जो काश्मीर में था मेरे बारे में तार दे दिया। दो दिन बाद तार आया--यहाँ भेज दो।

मेमसाहब ने मुझे रास्ता समझा दिया। रावलपिंडी स्टेशन पर एक आदमी मौजूद था। उसने मुझे बस में बिठा दिया। सबेरे बस चली और शाम को श्रीनगर।

मैं--तो तुम श्रीनगर भी हो आये ? श्रीनगर तो आज तक मैं भी नहीं गया।

ओम्--वहाँ पहुँचा तो मेमसाहब मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुई, और मुझसे भी अधिक उस कुत्ते को देख कर। उन्होंने मेरी बहुत तारीफ़ की। दो तीन दिन में वहाँ जेहलम नदी में किश्ती में रहा। फिर एक स्कूल में भर्ती करा दिया गया। स्कूल में उर्दू पढ़ाई जाती

थी । मुझे उर्दू नहीं आती थी । इधर-उधर हिन्दी सीखता रहा । छः सात महीने के बाद साहब के साथ कलकत्ते चला आया । कलकत्ते से साहब ने मुझे यहाँ पढ़ने भेज दिया ।

मैं—कलकत्ते में इतने स्कूल हैं, साहब ने तुम्हें यहाँ क्यों भेज दिया !

ओम्—उन्होंने कहा, बौद्ध माता-पिता के लड़के को बौद्ध स्कूल में ही पढ़ना चाहिये ।

मैंने सारी कहानी सुनी तो मेरे मुँह से अनायास निकला—ओम्! तुम मृत्युञ्जय हो । तुम मृत्यु के मुंह में से योंही बचकर नहीं आये । अपने समय का पूरा पूरा सदुपयोग करके पढ़ाई करो—तुम्हें कुछ बनना है, तुम्हारे हाथों कुछ न कुछ असाधारण काम होना है ।

बापू—बम्बई की ओर

जो लोग बापू की राजनीति से सहमत नहीं वा उसे समझते ही नहीं वह भी बापू की मानवता से बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकते। ६ सितम्बर की शाम को जब मैं उनकी व्यस्तता का ख़्याल कर उनकी कुटिया के भीतर पैर रखने में झिझकिचा रहा था, आवाज़ सुनायी दी —आइये, आइये। मैं भीतर चला गया।

"अब आप यहाँ रहने के लिये आये हैं, एक महीना, दो महीने, चार महीने, जितना रह सकें।"

"हाँ बापू, जितने दिन वर्धा में रहूँगा, यहीं रहने की कोशिश करूँगा।"

दो चार और बातें करने के अनन्तर बोले—"अच्छा! तो भोजन की घन्टी बज गयी है। पहले जाकर भोजन कर लीजिए।"

सेवाग्राम में भोजन के समय भोजन न करने पर दूसरे समय या दूसरे दिन तक उसी प्रकार इन्तज़ार करना पड़ता है जैसे मेल-गाड़ी छूट जाने पर।

"भोजन तो मैं नहीं करूँगा, बापूजी! थोड़ा दूध पी लूँगा।"

श्रीमन्नारायणजी को इशारा हो गया और मुझे उनके साथ वैसे ही जाना पड़ा जैसे किसी क़ैदी को सिपाही के साथ। यही थी प्रेम की क़ैद।

लौटा तो बापूजी को बुरी तरह व्यस्त पाया। एक के बाद दूसरी समस्या निबटाई जा रही थी। अपनी बात कहने का आग्रह रखने में अपना ही मन संकोच मानता था। तब तक डा० सुशीला नायर ने

धीरे से सलाह दी—"बापूजी ! अब जैसे भी हो मौन ले लें।"

"नहीं, वह तो नहीं हो सकता।"

"बापू ! स्ट्रेन बढ़ जायगा।"

"जिनको समय दिया जा चुका है, उनको समय देना तो धर्म है, वह कैसे तोड़ा जा सकता है ?" दया आती थी—अभी रात दस बजे बाद तक समय बँधा हुआ है। सैर को निकले तो श्रीमनजी ने किसी तरह हिम्मत की और राष्ट्र-भाषा के विषय में जो बात मैं कहनी चाहता था, वह अत्यन्त संक्षेप में कह दी—अथवा उसकी भूमिका बाँध दी। मुझसे दो एक वाक्य कह कर बोले: "अब जाना नहीं होगा, यहीं रहना, नहीं तो मैं बम्बई से लौट कर लड़ूंगा।"

"बापू आप तो ऐसे मेज़बान हैं कि अतिथि को घर पर छोड़ कर स्वयं चले जाते हैं।"

बड़ी ज़ोर से खिलखिलाकर बोले, "हाँ, मुझे ऐसा ही अतिथि चाहिये जो मेरी गैरहाज़िरी में घर को घर ही समझे।"

तब तक बापूजी को मौन की याद करायी गयी।

मैंने कहा, "अब बापू ! आप मौन रख लें।

उसके बाद किसी ने कुछ कहना चाहा। झट मुँह पर अँगुली चली गई। मेरे मुँह से निकला—"बापू, मौन वाणी का ही है न, कुछ सुनते चलने में तो हर्ज नहीं।"

बड़ी फुर्ती से दोनों कानों पर भी दोनों उंगलियां पहुँच गयीं और मैं समझता हूँ कि गाँधी जी के उस चित्र के लिये कोई कुछ भी दे देगा। मेरे मानस-पटल पर तो वह अंकित हो ही गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल वर्षा हो रही थी। देखा—बापू जी बरामदे में दो कंधों पर हाथ धरे टहल रहे हैं। मैं उधर से गुज़रा तो उनकी नज़र पड़ी। देखा हाथ उठे हैं, नमस्कार के लिये। मेरा सिर झुक गया। आगे बढ़ चुकने पर कुछ सोच कर मैं लौट आया। पास आकर खड़ा ही हुआ था, बोले:

"आप भी इस मण्डली में आ सकते हैं, किन्तु चर्चा वही चलेगी

जो चल रही है।"

उस समय भी किसी को कुछ बातें समझाई जा रही थीं। मैं पास जाकर खड़ा हो गया। जगह कुछ गीली थी। बापू से न रहा गया। बोले, "जगह गीली है। मेरा डाक्टरी मत कहता है कि आप वहाँ खड़े न हों। इधर सूखे में आयें।"

अब बापू स्वयं दो बार अपनी बातचीत में विराम-चिन्ह लगा चुके थे। मुझे लगा कि एक विराम-चिन्ह मैं भी लगा दूं तो शायद विशेष अनुपयुक्त न होगा बोला:

"बापू! मैं तो केवल एक मिनट में एक ही बात पूछने के लिये खड़ा हो गया था।"

"हाँ, वह तो मैं समझ ही गया था।"

"बापू! मैं यह जानता था कि आपका बम्बई जाने का दिन तो निश्चित है, लौटने का दिन भी निश्चित है क्या?"

"देखो, बम्बई में एक नारियल मिलता है, जिसमें पानी भी नहीं होता। यदि जिन्ना साहब ने मुझे वैसा नारियल ही दिया, तब तो मैं रविवार को ही लौट आऊँगा और यदि उस के साथ कुछ गुड़ भी दिया और यह भी कहा कि कल हम कुछ मसाला भी देंगे तो इस प्रकार जिन्ना साहब मुझे कुछ दिन ठहरा भी सकते हैं।"

मैं समझ गया बापू जी हर चीज़ के लिये तैयार हैं।

"बापू! यदि आपने मेरे सेवाग्राम छोड़ने पर जो प्रतिबन्ध लगाया है वह न रहे तो मैं सोचता हूँ, मैं भी इस बीच में बम्बई में अपना कुछ काम कर आऊँ।"

"हाँ, हाँ, मेरे साथ जाने में एक लाभ है। तीसरे डब्बे का भी टिकट रहने पर भी जगह अच्छी मिल जाती है।"

"मुझे इस लाभ का ध्यान नहीं था, अब आपने ज्ञान करा दिया है तो अवश्य फ़ायदा उठाऊँगा।"

"अच्छी बात है।"

"तो बापू! मैं अपना टिकट लेकर स्टेशन पर उपस्थित रहूँगा।"

"हाँ तो क्या मुझसे यह आशा रखते हो कि मैं टिकट भी ले दूंगा ?"

मैं मुस्कराता हुआ विदा लेकर चला आया। शाम को सेवाग्राम से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के कार्यालय लौटा तो रास्ते भर यही सोचता था कि कहीं ऐसा तो न होगा कि बापू जी का जाना न हो सके, क्योंकि हिन्दू सभा की ओर से गांधी-जिन्ना मिलन का विरोध करने के लिये जो कुछ भाई पहुँचे थे, उनमें से एक ने कहा था—

"बापूजी ! हम आपको बम्बई जाने न देंगे।"

८ तारीख़ को प्रातःकाल समाचार मिला कि उन तरुणों को जो गांधी जी के सिखाये सत्याग्रह वा पिकेटिंग का प्रयोग गांधी जी के ही विरुद्ध करने आये थे, पुलिस ने रोक लिया।

शाम को गांधी जी को विदा होना था। उनकी रिज़र्व गाड़ी जिसके लिये गान्धी जी और उनके सभी साथियों ने पैसे तीसरे दर्जे के ही खर्च किये थे, स्टेशन पर डेढ़ घंटा लेट पहुँची। समय था। भीड़ थी। अवसर क्यों चूके ? प्रार्थना कर ली गयी। जनता की तालियाँ इतनी ज़ोर से बजीं कि वैष्णव का हरि-कीर्तन मालूम देता था। आदमी बापूजी को बुरी तरह घेरे थे। लेकिन देखा जब बापू ने हरिजन-फंड के लिये हाथ फैलाया तो जो दाता थे, उन्होंने तो पैसे दिये, शेष उसी तरह हटने लगे जैसे पैसा देने के समय लोग बन्दर का तमाशा देखकर तितर-बितर जाते हैं।

भीड़ बहुत थी। इतनी भीड़ ने इधर बापूजी को शायद ही कभी वर्धा से विदा किया हो। नारे लग रहे थे—इतनी ज़ोर से कि आवाज़ में शब्द विलीन हो जाते थे। अधिकांश नारे गान्धीजी की जय के और हिन्दू-मुस्लिम एकता के ही थे। हाँ बीच-बीच में कहीं से कोई एकाध आवाज़ पाकिस्तान-विरोधी भी सुनाई देती थी। पानी बरसने से भीड़ को कष्ट हुआ, किन्तु इस समय वह अपने बापू को एक बहुत ही महत्वपूर्ण यात्रा पर विदा करने आयी थी।

रात को जितने स्टेशन आये, दो चार को छोड़ लगभग सभी पर

बापू को दर्शन देने के लिये उठना पड़ा। बिचारे कमलनारायण बजाज अपनी सारी कुशलता और मधुरता के बावजूद जनता के आग्रह के सामने हार हार जाते थे। बापू को जब लोग सोने न देते तो वह भी हाथ फैलाकर अपने जागने की क़ीमत वसूल कर ही लेते थे। एक बार मैंने कहा—

"बापूजी! आपने तो भिक्षुओं का धर्म अपना लिया।"

"पैसा-पैसा करके बहुत इकट्ठा हो जाता है और पैसा देते समय लोग शोर भी नहीं मचाते।"

जनता—हज़ारों की भीड़—जिस परिमाण में स्टेशनों पर इकट्ठी हो रही थी और जिस उत्साह से नारे लगा रही थी, वह जनता का आशीर्वाद था कि बापू! जाइये और जिस महान् उद्देश्यों को सिद्ध करने के लिये जा रहे हैं, उसे सिद्ध करके आइये।

बौद्ध-गृह

बहुत दिनों से लण्डन से जर्मनी आने की सोच रहा था। आज कल करते कई महीने गुज़र गये, आख़िर कुमारी ढालके और श्रीयुत आस्टर के प्रेम-पूर्ण निमन्त्रण को बहुत दिन तक न टाल सकने के कारण जुलाई महीने की दो तारीख़ को मैं बर्लिन पहुँचा। भिक्षु के पीले वस्त्रों का एक फ़ायदा यह है कि किसी को स्टेशन पर बहुत ढूँढ़ना नहीं पड़ता। केवल पत्र-व्यवहार द्वारा परिचित सज्जन भी झट आकर पहचान लेते हैं। इसी लिये डिब्बे से उतरते ही देखा कि दीर्घ-काय श्रीयुत आस्टर सब लोगों के बीच रास्ता बनाते मेरी ओर बढ़े आ रहे हैं। पीछे कुमारी ढालके की वृद्धा बहन थीं। कुमारी ढालके अपने सीलट के निवास स्थान से कुछ दिन में आने वाली थीं। स्टेशन पर अभिवादन के अतिरिक्त और अधिक बात-चीत करने का समय न था, क्योंकि अभी थोड़ी यात्रा और बाकी थी। बिजली की गाड़ियों में दो तीन जगह अदला-बदली करके शाम के लगभग सात बजे हम फ्रोनहाउ स्टेशन पर उतरे। पैरिस से बर्लिन तक अठारह घंटे गाड़ी में क़ैद रहने के बाद स्वभावतः जल्दी स्टेशन से बाहर निकलना चाहता था। फ्रोनहाउ को बर्लिन का उपनगर समझ, मैंने सोचा कि साधारण सी सड़कों वाला कोई नगर होगा। लेकिन स्टेशन से बाहर निकलने पर देखा कि अन्य साधारण सड़कों जितनी चौड़ी तो यहाँ पैदल चलने के लिये सड़क के दोनों ओर दो दो पटरियाँ ही हैं। पाँच सात बड़ी बड़ी दूकानों के पास से गुज़र कर आगे बढ़े तो एक उद्यान सा दिखाई दिया।

हम उसी ओर गये। सामने कुछ सीढ़ियाँ थीं। नीचे उतरे तो देखा कि गुलाब के लाल फूलों की मखमल बिछी है। यात्रा की सारी थकावट दूर हो गई। सड़क के दूसरी ओर देवदारू के वृक्षों का उपवन था। "इच्छा हो, तो सड़क सड़क चलिये नहीं तो इस पार्क में से होकर चलिये।" हमने पार्क में से होकर ही जाना पसन्द किया। कुछ वर्ष पहले धर्मशाला (ज़िला काँगड़ा) में देवदारू के वृक्षों की छाया में जी भर कर घूमा था उसके बाद आज यहाँ मौका मिला। साधारण चाल से हम कोई पन्द्रह मिनट में अपने निवास स्थान-बौद्धगृह पर आ पहुँचे। रास्ते में मैंने देखा कि सभी घर फूलों से सजे और छोटे छोटे उद्यानों से घिरे हैं।

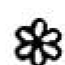
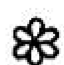
'बौद्ध-गृह' के पीछे की ओर तो एक बड़ा देवदारू का बन है। मैंने मन में कहा, नगर क्या है उद्यान-नगर। पीछे मालूम हुआ कि फ्रोनहाऊ यूरोप भर में "गार्डन सिटी" के नाम से मशहूर है।

हाँ, तो आप तो चाहेंगे गार्डन-सिटी की सैर करना, लेकिन मैं चाहता हूँ कि आपको पहले अपने निवास स्थान, 'बौद्ध-गृह', की ही सैर करा दूँ। देखिये, सर्व प्रथम इसके द्वार पर ही दृष्टि डालिये। आपको अपने यहाँ के किसी स्थान का स्मरण आता है? कदाचित् भूपाल-राज्य अन्तर्गत साँची आपके यहाँ से दूर है। आप वहाँ न गये हों। देखिये, यह द्वार वहीं की बौद्ध-शिल्पकला के अद्वितीय नमूने, प्रसिद्ध साँची द्वार, की छोटी सी नकल है। अपने यहाँ के धनी भले ही यूरोपियन कला की वर्तमान जूठन चाटा करें, परन्तु डा० पाल डालके ने बर्लिन से कुछ ही मील के फ़ासले पर भारतीय शिल्पकला-की ध्वजा गाड़ी है।

दरवाज़े के उस ओर आप जो सीढ़ियाँ देखते हैं उन्हें निरर्थक न समझें। वे विशेष आशय को लेकर बनवाई गई हैं। आठ सीढ़ियों का मतलब है बौद्धों का आर्य-अष्टांगिक मार्ग और बारह सीढ़ियों का मतलब है द्वादशांक प्रतीत्यसमुत्पाद (=कार्य कारण के सम्बन्ध का

सिद्धान्त) आगे जो आप रेत की पहाड़ी पर देवदारु की छाया में बहुत से कमरे देखते हैं वे बौद्ध योगाभ्यासियों के रहने तथा ध्यान आदि के लिये बनाये गये हैं। मध्य में जो बड़ा कमरा है, वह बुद्ध-मन्दिर है। अन्दर आइये और सामने की दीवार के तीन शिलालेखों पर दृष्टि डालिये। देखिये, बीच के शिला लेख पर भगवान् बुद्ध की क्या ही सुन्दर शान्त मूर्ति अंकित है और उसके दोनों ओर के दो शिला लेखों पर जर्मन अनुवाद सहित भगवान् के कुछ उपदेश। प्रतिदिन अनेक लोग इस बुद्ध-गृह में देखने आते हैं और ढाई सहस्र वर्ष पूर्व भारत में दिये गये भगवान् बुद्ध के इन उपदेशों से अपने को कृतकृत्य करते हैं। महीने में दो बार बर्लिन और आसपास के बौद्ध इस बुद्ध-मन्दिर में एकत्रित होते हैं। वे प्रयत्न करते हैं कि डा० ढालके के द्वारा प्रज्वलित की गई यह ज्योति बुझने न पावे।

पाठक पूछेंगे, यह डा० ढालके कौन थे। उनका कुछ व्यक्तिगत परिचय मिलना चाहिये। सन् १८६५ के जनवरी मास की २५ तारीख को पूर्व प्रशिया के ओस्टेड रोड नामक नगर में पाल नामक एक बालक का जन्म हुआ। कहते हैं, जब अभी वह छोटा ही था, एक दिन वह अपनी माता के पास जेब में हाथ डाले खड़ा था। एकाएक वह सामने की लकड़ी की बाड़ पर चढ़ा, कूदा, दूसरी ओर खड़े एक लड़के के सिर पर घूंसा मारा, और बड़ी फुर्ती से उसी रास्ते वापिस आकर माता के पास खड़ा हो गया। माता ने पूछा, यह क्या किया? वह बोला—यह बड़ा लड़का एक छोटे लड़के को तङ्ग कर रहा था। मुझ से यह देखा नहीं गया।

विद्यार्थी-जीवन में पाल की गिनती श्रेष्ठ विद्यार्थियों में न थी। शिक्षकों को सन्तुष्ट रखने के लिये वह थोड़ी देर पढ़ता और फिर बस। बाकी समय में उस को अपने निजी काम बहुत रहते थे। वह पत्थर, सिक्के, पक्षी, अण्डे, मेंढक आदि इकट्ठे किया करता था।

अठारह वर्ष की आयु में स्कूली शिक्षा समाप्त कर पाल ढालके ने

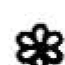
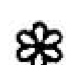
डाक्टरी पढ़ना आरम्भ किया। इस समय वह सब से बढ़ कर परिश्रमी विद्यार्थी माना जाता था। उसके लिए हुए प्रोफेसरों के लेक्चरों के "नोट" सब के काम आते थे।

शिक्षा समाप्त कर होम्योपैथिक चिकित्सा करते उन्हें बहुत दिन न हुए थे कि उनकी प्रैक्टिस चमक निकली। ३२ वर्ष की आयु में ही, उनके पास इतना पैसा हो गया कि वे संसार की यात्रा के लिये निकल सकें। इस समय तक उन्हें बौद्ध धर्म का कुछ भी परिचय प्राप्त न था। सम्भव है, इस यात्रा में ही उन्हें कहीं कुछ परिचय मिला हो। इस समय केवल भारत, जापान, हवाई, समोआ तथा अमरीका की ही यात्रा कर पाए—माता के रोग-ग्रस्त होने का समाचार मिलने के कारण वे शीघ्र लौट आये।

कुछ समय बाद अवकाश मिलने पर उन्होंने फिर यात्रा आरम्भ की। इस बार उद्देश्य स्पष्ट था बौद्ध धर्म और भारत की विस्तृत जानकारी प्राप्त करना। कहते हैं, एक बार वे किसी दूकान पर खड़े थे। उनके कोट पर एक बड़ी सी मक्खी आ बैठी। उन्होंने अपनी यूरोपियन लापरवाही के साथ उसे झटका और मार दिया। दूकानदार ने देखा, क्या असभ्य आदमी है! उसका बर्ताव कुछ रूखा हो गया! डा० ढालके पर इस घटना का बड़ा प्रभाव पड़ा। बौद्ध हो जाने पर वे इसे कभी नहीं भूले।

सीलोन और बर्मा में रह कर पाली भाषा के अध्ययन तथा बौद्ध भिक्षुओं के सत्सङ्ग से उन्होंने जो कुछ सीखा अपने स्वतन्त्र अध्ययन तथा मनन से उस पर अपनी मौलिकता की छाप लगा दी। जर्मन भाषा में उन्होंने बौद्ध धर्म विषयक अनेकों ग्रन्थ लिखे। उनमें से कुछ जापानी और अंगरेज़ी आदि विदेशी भाषाओं में भी अनूदित हो चुके हैं। "बौद्ध धर्म और विज्ञान" तथा "बौद्ध धर्म और मानसिक जगत में उसका स्थान"—ये दो अन्तिम ग्रन्थ अद्भुत हैं। उनके पढ़ने से प्रतीत होता है कि शोपनहार के बाद जर्मनी ने जो विचारक पैदा किये, उनमें डा० ढालके का स्थान किसी से कम नहीं है।

आप की इच्छा थी कि अपने इस "बौद्ध-गृह" को यूरोप में बौद्ध संस्कृति के प्रसार का एक महान केन्द्र बना दें। और इसके लिये वे सब कुछ कर भी रहे थे। अपनी होम्योपैथिक की प्रेक्टिस से वे जितना धन कमाते थे सब इसी के निर्माण में खर्च कर देते थे। उनकी बहनें भी उस कार्य में उनकी सहायक थीं। मृत्यु ने उनकी इस अभिलाषा पर पानी फेर दिया। सन् १६२८ की २६ फरवरी को वे सदा के लिये मीठी नींद सो गये। इस समय यह बौद्ध-गृह डा० ढालके के परिवार के हाथ में है और वे इस आशा में है कि बौद्ध संस्कृति के प्रेमियों में से कोई सामर्थ्यवान व्यक्ति, डा० ढालके की उस कृति की संरक्षा तथा संवर्धन के लिये आगे आये।

"उद्यान-नगर" जैसे सुन्दर शहर को पाकर मैं अपनी छः बजे शाम की सैर को भूलने वाला न था। पहुँचने के दूसरे ही दिन यह सैर शुरू हो गई। इस सैर में साथी था ढालके परिवार का १४ वर्षीय पाज़। ग्रीष्म ऋतु में यहाँ रात तो ६ बजे से पहले होती ही नहीं, तिस पर भी मैं घन्टे-डेढ़-घन्टे में ही लौट आता था। लेकिन दो महीने तक प्रति दिन घन्टा डेढ़ घन्टा घूमने का भी मतलब है समस्त नगर छान डालना। भारत में जिस प्रकार बादल होने पर 'फाइन-डे' कह कर स्कूल के लड़के उछलते हैं, कुछ वैसी ही प्रसन्नता होती है यहाँ के लोगों को सूर्य्य के भली प्रकार निकले रहने पर। किसी से मिलते ही पहली बात होती है, क्या ही सुन्दर दिन है! ऐसे दिन आप किसी ओर निकल जाइये, छोटे बड़े सभी आपको जीवन का पूरा आनन्द लेते मिलेंगे। देखिये, पास के पबलिक पार्क* में तीन चार युवतियाँ और युवक गेंद खेल रहे हैं। एक युवती दूर खड़ी रहकर, मुँह फेरकर

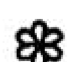
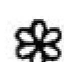
*यहाँ के सार्वजनिक उद्यानों में पुलिस या मजिस्ट्रेट के हुक्मनामे नहीं लगे हुए हैं। हाँ, कहीं कहीं शिष्टतापूर्वक लिखा है, 'अपने पार्क की रक्षा कीजिये, काग़ज या कोई और ऐसी चीज न फेंकिये।' कोनों पर काग़ज़ या और कचरा फेंकने की टोकरियाँ लगी हैं।

गेंद फेकती है। बाकी की पंक्ति में से कोई गेंद को उठाकर या तो अपने पास रख लेता है, या छिपाकर किसी और को दे देता है। फिर उस युवती से पूछा जाता है गेंद किस के पास है? यदि बता दे, तो दूसरा आदमी गदहा (चोर) बनता है, यदि न बता सके तो फिर उसी को गेंद फेंकनी पड़ती है। अब हम अपने निवास-स्थान से दूर चले आये। देखिये जगल के उस कोने में एक युवक, एक युवती को तीर चलाना सिखा रहा है। और आगे चलिये। देखिये सड़क पर आठ दस साइकिलें एक साथ जा रही हैं। इनमें कुछ युवक हैं औरकुछ युवतियाँ। लेकिन सभी के पीछे सामान की छोटी छोटी गठरी बँधी है। पहचाना, ये कौन हैं? ये हैं घुमक्कड़ दल के सभासद। जर्मनी में इन्हें 'घूमने वाले पक्षी' कहते हैं! इनका काम है छुट्टी मिलते ही कहीं बाहर निकल जाना और वहाँ 'सभ्यता' के नियमों को एक ओर रखकर खुली वायु और खुले प्रकाश में खेलना-कूदना और पड़े पड़े धूप तापना। इन युवकों और युवतियों के शरीर को देखो, न कहीं हड्डियाँ दिखाई दे रही हैं और न फ़िजूल का मांस लटक रहा है। उभयपक्ष का खुला, पवित्र जीवन शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का कारण होता ही है।

किसी स्थान का यथार्थ परिचय प्राप्त करना हो तो वहाँ के बच्चों से दोस्ती पैदा करनी चाहिए। बच्चों को बड़े आदमियों की तरह अपने विचार छिपाने नहीं आते और छिपाना भी चाहें तो वे छिपा नहीं सकते। यहाँ आने पर सर्वप्रथम मेरा परिचय १४ वर्षीय पाल से ही हुआ। उसको स्कूल से एक मास की छुट्टी थी। दिन भर वह मेरे पास डटा रहता था। मेरा काम बन गया। बिना प्रयास के एक अच्छा जर्मन शिक्षक मिल गया। एक दिन मुझे कुछ हँसी करने की सूझी। मैंने कहा, "पाल, तुम तो ज्यू (यहूदी) हो।" वह उस कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और बोला—"जाता हूँ, यह मेरा सब से बड़ा अपमान है।' उसने यह बात हँसी में कही थी। लेकिन मैं समझ गया कि इस हँसी में एक तथ्य है। उस दिन से जब मुझे कभी मन बहलाना होता है,

तो दो चार जर्मनों के सामने किसी 'यहूदी' की प्रशंसा में कुछ कह देता और वह काफ़ी होता।

ऊपर कह चुका हूँ कि पाल मुझे एक अच्छा जर्मन शिक्षक मिल गया। वह मुझे जर्मन सिखाने के लिये ही दिन भर मेरे पास डटा रहता हो, सो बात नहीं थी। उसकी अँगरेज़ी सीखने की इच्छा मेरी जर्मन सीखने की इच्छा से कहीं अधिक बलवती थी। शाम को सैर के समय में तो कुछ मनोरञ्जन में समय काटना चाहता और वह अपने जर्मन अंगरेज़ी कोष को साथ साथ लिये फिरता। बातचीत में जहाँ उसे कहीं किसी अँगरेज़ी-शब्द का अभाव मालूम होता, वह झट सड़क पर खड़ा हो, अपना डेढ़ इञ्च का कोष निकालता और उसे देखने लग जाता। एक दिन उसके पास कोष न था। उसने एक फूल दिखा कर पूछा, "अँगरेज़ी में इसे क्या कहते हैं?" मुझे उस फूल का अँगरेज़ी नाम मालूम न था। अपने अँगरेज़ी अज्ञान पर लज्जित न होने के उद्देश्य से मैंने कहा—"पाल, अँगरेज़ी न तुम्हारी मातृ-भाषा है न मेरी। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं, यदि मुझे इस फूल का अँगरेज़ी नाम नहीं आता।" वह बोला—"तुम्हारा क्या है। तुम्हारी तो मातृ-भाषा ही है।" ठंडी साँस लेते हुये मैंने कहा—"पाल, ठीक कहते हो। हमारा कुछ नहीं। हम अंगरेजों का उपनिवेश हैं और अँगरेज़ी हमारी मातृ-भाषा है।"

सड़क पर देखिये, तो दिन भर लड़के और लड़कियाँ साइकिल दौड़ाते मिलेंगे। साधारण परिचय रहने पर भी वे या तो 'गुटेन-टाग' अर्थात् "आप को दिन शुभ हो" कहेंगे या कोई कोई "हैल हिटलर! (जय हिटलर की)" मैं एक दिन सैर से लौटते समय एक जगह कुछ देखने के लिये खड़ा हो गया। दूर खड़ी हुई एक जर्मन देवी ने अपने पाँच वर्षीय बालक से कहा—देखो! परदेशी है। "शुभ-दिन" कह कर आओ। लड़का धीरे धीरे मेरे पास आया और निकट आते ही हाथ बढ़ाकर बोला—"गुटेन-टाग"। मैंने अपने पीले चीवर में से हाथ

निकाल अपने नये मित्र से हाथ मिलाया। वह पूछने लगा—तुम्हारे इस वस्त्र का क्या रङ्ग है ? और (शायद) क्यों पहना है ! मेरी टूटी फूटी जर्मन पाँच वर्षीय बालक को इन प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ थी। मेरे साथी पाल ने कुछ कह कर उसका संतोष किया। दूसरे दिन मैं, और मेरे साथ दो जने और सैर से लौट रहे थे। देखा कि कोई डेढ़ वर्ष का एक बालक जंगले के दूसरी ओर खेल रहा है। हम देखने के लिये खड़े हो गये। बालक हमारी तरफ बढ़ा। हमने जंगले के उस ओर हाथ बढ़ाया। काफी परिश्रम और समय के बाद वह अपने डेढ़ फिट ऊँचे चबूतरे से नीचे उतर कर हमारी ओर आया और अपने छोटे से हाथ को हमारे हाथ में देकर बोला—गुटेन-टाग।

बालक के माता पिता दूर से यह सब देखते रहे। उन्होंने दौड़ कर किसी भारतीय माता की तरह बच्चे को गोद में नहीं उठा लिया कि पीले वस्त्रों वाला साधू कहीं झोली में डाल कर न ले जाये।





पाकिस्तान

तीन अगस्त के दै० 'आज' में कराची का एक समाचार है—'आगामी ईदुलफितर पर 'मुसमलमानों से खरीदो' आन्दोलन खूब व्यापक हो सके, इस विचार से सिन्ध प्रान्तीय मुसलिम लीग के अध्यक्ष श्री० जे० एम० सैयद ने मुसलिम सम्प्रदाय से प्रान्त के कोने कोने में दुकानें खोलने की अपील की है।'

इस समाचार का आशय क्या है ? मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं का आर्थिक बायकाट।

उसी के ठीक नीचे एक दूसरा समाचार है जिसका शीर्षक है, पण्डों के मुसलमान नौकर न रहेंगे। समाचार यह है—'हिन्दू महासभा के केन्द्रीय कार्यालय की ओर से चित्रकूट के पण्डों के विषय में प्राप्त हुई शिकायतों की जाँच करने के लिए श्री दुर्गाप्रसाद भेजे गये थे। उन्होंने २१ जुलाई को वहाँ के सब पण्डों को इकट्ठा करके उनसे प्रतिज्ञा करायी कि भविष्य में वे धार्मिक कृत्यों के लिए यात्रियों को ले आने और ले जाने तथा तत्सम्बन्धी कार्य के लिए हिन्दु धर्मावलम्बियों के सिवा अन्य किसी भी जाति के व्यक्ति को नौकर न रखेंगे और यदि आज कल कोई नौकर हो तो उसे पृथक कर देंगे। यह प्रतिज्ञा चित्रकूट के सभी पण्डों ने जिनकी संख्या २३ है, की। इस अवसर पर चित्रकूट में हिन्दू सभा का भी सङ्गठन हुआ।'

इस दूसरे समाचार का मतलब क्या है! हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों का सामाजिक बहिष्कार।

भारत का अभिशाप

यदि यह आन्दोलन इसी प्रकार चलते रहें वा चलते रहने दिये जायँ तो ऐसा कौन है जो इस भारत भूमि को दो हिस्सों में बँटने से रोक सके? भिन्न भिन्न धर्म दूसरे देशों में भी है, किन्तु वहाँ उन धर्मों के अनुयायियों का समाज एक है। वहाँ धर्मान्तर का मतलब समाजान्तर नहीं होता। न जाने भारत से यह अभिशाप कब दूर होगा?

मुसलमानों की ओर से हिन्दुओं के बायकाट के जो प्रयत्न आरम्भ हुए हैं, यद्यपि उनकी वकालत नहीं की जा सकती, लेकिन वे समझ में आते हैं। एक हिन्दू जब 'मुसलमान पानी' वाले से पानी पीने की अपेक्षा प्यासा रहना अधिक पसन्द करता है, तो क्या उसी के साथ बैठे मुसलमान भाई को बुरा न लगेगा? हो सकता है कि मुलसमान भाई ने इसे हिन्दू का 'धर्म' मानकर अधिक बुरा मानना छोड़ दिया हो, लेकिन बात तो बुरी लगने वाली ही है।

कुछ वर्ष हुए सारनाथ में हङ्गरी (देश) का एक यात्री आया था। उसे अनेक देशों के अनेक भाषाओं के गीत कण्ठस्थ थे। उन गीतों को सुनाकर लोगों का मनोरञ्जन करना ही उसकी चलती फिरती जीविका का साधन था। मैंने पूछा—आपको हिन्दी का भी कोई गीत याद है? बोला—मैंने हिन्दी का कोई गीत नहीं याद किया। क्यों? 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश' अर्थात् हिन्दू बड़ा खराब होता है। वह अपने पास एक पैसा रखता था और नाटक करता था कि किस प्रकार हिन्दू लोग अछूतों को ऊपर से पैसा देते हैं। वह कहता था—पानी की प्यास लगी होती है और हिन्दू 'जात' पूछता है! उस दिन—जिस दिन वह यहाँ था—सारनाथ में कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त तथा पण्डित बालकृष्ण जी 'नवीन' भी आये थे। उसका यह दृश्य उन्होंने भी देखा था और देख कर उन्हें बड़ा दुःख हुआ था। मुझे याद है कि पण्डित बालकृष्ण जी ने तो गुप्त जी से पूछा था—'भैया! यह आपका 'धर्म' अभी कितने दिन और चलेगा?' और मैं तो उस आदमी की याद करके आज भी काँपता हूँ क्योंकि वह मेरे देश के विरुद्ध एक चलता

फिरता प्रोपैगएडा था—और शायद निष्पक्ष तथा सच्चा। काश उसे इतनी तमीज़ होती कि वह हिन्दी को हिन्दुओं की भाषा समझने की गलती न करता। उस हालत में हमारी राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' का भी एक गीत संसार की अनेक भाषाओं के गीतों की तरह उसके गले का हार बना होता।

हिन्दुओं की यह छूत-छात, शूद्रों और अछूतों के प्रति मिट जाये, इसके सामूहिक प्रयत्न हुए हैं। उन्हें आंशिक सफलता भी मिली है। आज आवश्यकता है इस बात की कि अहिन्दुओं—मुसलमानों, ईसाइयों, बौद्धों—के प्रति जो हिन्दुओं की यह छूत-छात है उसके मिटाने के भी सामूहिक प्रयत्न किये जायँ।

उस दिन हरिद्वार से सहारनपुर के रास्ते में एक लारी खड़ी हुई तो एक लड़के के पास 'हिन्दू पेड़े' थे और दूसरे के पास 'मुसलमान पेड़े।' खाने पीने की चीज़ें बेचने का एकाधिकार किन्हीं एक तरह के लोगों के ही हाथ में क्यों रहे ? न्याय की बात तो यही है कि या तो सब से सब खरीदें, नहीं तो फिर 'मुसलमानों से ही खरीदो' का आन्दोलन भी चलेगा ही। अछूतों में कहां कहीं इस प्रकार की हवा बह चुकी है, लेकिन उनकी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति अत्यन्त ख़राब होने के कारण वह समुद्र में जली आग की तरह बढ़ने नहीं पायी। लेकिन मुसलमानों और ईसाइयों में यह आग उभरी तो उसे 'धार्मिक प्रचार' रूपी सामग्री की कमी न रहेगी।

अनिवार्य प्रतिक्रिया

मैं, थोड़ा ही समय हुआ, सिन्ध प्रान्त में कुछ दिन घूमा। वहाँ छूत-छात बहुत ही कम है, न होने के बराबर है। उधर जो यह आन्दोलन उठा है, स्पष्ट है कि उसका कारण सारे भारत में जो छूत-छात प्रचलित है, जिसके शिकार मुसलमान भी होते हैं, उसी के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। और सिन्ध में यह आवाज़ इसीलिए उठी है कि आन्दोलनकारी समझते हैं कि वहाँ उन्हें सफलता की आशा है।

उसके जवाब में सिन्ध के हिन्दू क्या करेंगे ? हो सकता है कि

कोई अदूरदर्शी नेता उन्हें भी मुसलमानों का बायकाट करने की सलाह दे। किसी हिन्दू की दूकान पर मुसलमान नौकर हो, उसे उपदेश दिया जा सकता है कि हिन्दू नौकर रखे, लेकिन यह ग़लत रास्ता होगा। 'वैर कभी वैर का इलाज नहीं हुआ है।' यदि मुसलमान 'केवल मुसलमानों से ख़रीदो' का आन्दोलन चलायें तो हिन्दू उसका जवाब 'केवल हिन्दुओं से खरीदो' से न दें। वह उसी प्रकार मुसलमानों से भी ख़रीदते रहें जैसे आज तक ख़रीदते रहे हैं। इतने दिन तक हिन्दुओं ने 'केवल हिन्दुओं से ख़रीदो' को 'धर्म' माना है—यह सत्य है कि यह 'धर्म' केवल खाने-पीने की चीज़ों तक सीमित रहा है—अब कुछ दिन के लिये मुसलमानों को भी इस 'धर्म' की दीक्षा ले लेने दें। और इसका अच्छा जवाब तो यह है कि प्रत्येक भारतवासी कोई भी चीज़ खरीदते समय—चाहे वह खाने-पीने की ही क्यों न हो—किसी से भी उसका मज़हब पूछना छोड़ दे।

दिलों के 'हिन्दुस्तान' और 'पाकिस्तान' यदि दिलों से नहीं मिटे तो उनके ज़मीन पर उतर आने का पूरा ख़तरा है।

मेरा निवेदन

और हिन्दुओं की ओर से जो यह मुसलमानों, ईसाइयों का बहिष्कार, वह तो पक कर 'धर्म' बन गया है। इस तरह के अनेक लेख भी उस 'धर्म' को टस से मस नहीं कर सकते। लेकिन तब भी मेरा निवेदन है कि हिन्दू सभा के प्रयत्नों से चित्रकूट की जो 'समस्या' हल हुई है, हम उस पर विचार करें। रिपोर्ट में लिखा है कि 'पण्डों के विषय में प्राप्त हुई शिकातत की जाँच करने के लिए श्री दुर्गाप्रसाद भेजे गये थे।' क्या शिकायत थी, यह रिपोर्ट में दर्ज नहीं है। पण्डों का मुसलमानों को नौकर रख लेना क्या कम बड़ी शिकायत है, जो हम किसी दूसरी शिकायत की खोज करें! हाँ रिपोर्ट में यह भी दर्ज है कि पण्डों ने 'मुसलमानों को यात्रियों को धार्मिक कृत्यों के लिए ले आने ले जाने के लिए नौकर रखा था।' इस पर यदि किसी इस्लामी

संस्था को आपत्ति होती कि मुसलमानों ने 'हिन्दू यात्रियों को धार्मिक कृत्यों के लिए ले आने ले जाने' की नौकरी क्यों की, तो बात समझ में आती। लेकिन यहाँ तो स्वयं हिन्दू सभा को आपत्ति है।

आज अनेक हिन्दू आर्थिक कारणों से ईसाइयों तथा मुसलमानों की भी नौकरी करते हैं। उभय पक्ष को एक दूसरे के धर्म से कुछ लेना-देना नहीं रहता। इसी प्रकार यदि चित्रकूट के कुछ स्थानीय मुसलमान आर्थिक कारणों से 'यात्रियों को धार्मिक कृत्यों के लिए ले जाने ले आने की' नौकरी करते हैं, तो उसमें आपत्ति करने लायक क्या है! कोई कान में कह रहा है—अजी! यह केवल 'नौकरी' नहीं थी, इसके भीतर बहुत कुछ छिपा था। यदि 'छिपे हुए बहुत कुछ' की ओर इशारा है तो वह कौन सा कुकृत्य है जो आज दिन किसी भी धर्म के, किसी भी तीर्थ के पण्डों से बचा है!

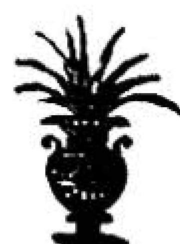
हरिद्वार शायद एक ऐसा तीर्थ है जहाँ कोई मसजिद दिखाई नहीं देती। मुसलमानों के हाथ में कहीं कुछ ज़मीन नहीं है। वहाँ की सनातन धर्म सभा के मन्त्री पण्डित चिरञ्जीव लाल ने बताया कि एक खास दिन यहाँ के लगभग सभी मन्दिर नीलाम होते हैं। उनकी बोली बोली जाती है। मन्दिर का मालिक निश्चित रक़म लेकर निश्चिन्त हो जाता है और जो ठेके पर लेता है वह उन मन्दिरों को अधिक से अधिक आमदनी का साधन बनाता है। कुछ आमदनी तो श्रद्धालुओं के चढ़ावे से आती है, लेकिन एक बड़ी आमदनी उन ऐयाशों से होती है जो गङ्गा के किनारे के मन्दिरों की छतों को ऐयाशी के लिए किराए पर लेते हैं। बताइये उसमें किसी मुसलमान का क्या दोष!

अच्छे बुरे सभी समाजों में हैं। पण्डों में भी एक से एक सज्जन मिलेंगे। हमें अन्धे होकर न तो किसी समाज की एकदम प्रशंसा करनी चाहिये, न निन्दा। प्रशंसा या निन्दा व्यक्तियों की हो, उनके कर्मों की हो, सारे के सारे समाज की कभी नहीं।

इन पंक्तियों के लेखक की कल्पना के समाज में पयाव पर केवल यह देखा जायगा कि आदमी प्यासा है या नहीं? धर्मशालाओं में

केवल यह देखा जायगा कि ठहरने की इच्छा करने वाले को रात्रि विश्राम की आवश्यकता है या नहीं, मन्दिरों में केवल यह देखा जायगा कि वहाँ जानेवाला दर्शनार्थी है या नहीं ? लेकिन यह तभी होगा जब धर्मान्तर का मतलब समाजान्तर समझ जाना बन्द हो जायगा ।

क्या वह दिन आयेगा, अथवा यह अखण्ड भारत खण्ड खण्ड होकर ही रहेगा ?



दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ की याद

कुछ समाचार ऐसे होते हैं, जिनका प्रचार समाचार पत्रों द्वारा कम होता है और लोगों की ज़बानी अधिक। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के देहावसान का समाचार बात की बात में सारनाथ में फैल गया। मैंने सुना, तो हृदय को ज़ोर का धक्का लगा। हा! अब ऐण्ड्रूज़ को कभी न देख पाऊँगा।

अपने विद्यार्थी-जीवन में ही मैंने श्री सी० एफ० ऐण्ड्रूज़ का नाम पहले पहल सुना था; लेकिन जिस रूप में परिचय हुआ; वह कुछ आज बहुत अभिमान करने लायक नहीं है। परिचय से मेरा मतलब है अख़बारी परिचय से; साक्षात से नहीं। साक्षात तो बहुत दिन पीछे शायद प्रथम बार इंग्लैण्ड में ही हुआ। हम विद्यार्थी ऐण्ड्रूज़ की तारीफ़ कर रहे थे। हमारे राष्ट्रीय विचारों के दीक्षा-गुरु (यहाँ उनका नाम न लूँगा) ने कहा—'मूर्ख हो, समझते नहीं हो। जानते हो, जिस प्रकार एक जादूगर एक आदमी का सिर धड़ से अलग करके दिखा देता है और दूसरा उनको गालियाँ सुनाने लगता है, लेकिन दोनों का काम जनता के पैसे ठगना होता है। ठीक इसी प्रकार कुछ अंग्रेज़ हम पर अत्याचार करते हैं, दूसरे उनके अत्याचारों की निन्दा (करने का नाटक) करते हैं; लेकिन दोनों का मतलब हम भारत-वासियों का ख़ून चूसना ही रहता है—ऐण्ड्रूज़ दूसरी क़िस्म के अंग्रेज़ हैं।' यों हमें भारत के लिए मर कर इंग्लैंड की सच्ची सेवा करने वाले एक सन्त पुरुष का परिचय कराया गया।

धीरे-धीरे न जाने कैसे यह संस्कार फ़ीका पड़ने लगा। प्रवासी भारतियों पर आपत्ति पीछे आती और ऐण्ड्रूज़ वहाँ उससे पहले पहुँच जाते। उनकी इस दौड़-धूप के वृत्तान्त पढ़ने को मिलते और मिलते

उनके लिखे लेख। इन सब में एक बात निहित मालूम देती—'सारी अंग्रेज़-जाति पर अविश्वास किया जा सकता है; तब भी ऐण्ड्रूज़ पर नहीं।'

१९३२ या ३३ में मैंने उन्हें इंग्लैंड में देखा—एक से अधिक मीटिंगों में। मन बरबस उनकी ओर आकर्षित हुआ। मेरे एक सिंहल देशीय मित्र लन्दन की तरुण ईसाई समिति (Y.M.C.A.) के सहायक-मन्त्री थे। वह जब कभी मिलते, श्री ऐण्ड्रूज़ के भोलेपन के दो—एक क़िस्से सुना देते। मैं सोचा करता, दिन-रात दुनियाँ के एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ लगाने वाला यह आदमी, प्रायः नित्य बड़े-से बड़े अधिकारियों से मिलने वाला यह मानव इतना 'भोला'! इसका काम कैसे चलता होगा!

श्री ऐण्ड्रूज़ की ओर आकर्षित होने का एक और भी कारण मालूम होता है। उनकी शक्ल मेरे पूज्य पिता जी की शक्ल से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। जिसने बचपन में ही अपने पिता को गँवा दिया हो, जिसका मन पिता के द्वारा लालित—पालित होने की अतृप्त आकांक्षा से भरा हो, वह यदि पितृतुल्य किसी सौम्यमूर्ति की ओर आकर्षित हो जाय, तो क्या आश्चर्य? मुझे लगता है कि श्री ऐण्ड्रूज़ की ओर आकर्षित होने का एक अचेतन कारण यह अवश्य रहा है। यों ऐण्ड्रूज़ के जीवन का ध्रुवतारा ईसा की शिक्षाएँ हैं और मेरे जीवन का बुद्ध की।

एक दिन मेरे सिंहल-देशीय मित्र ने एक सार्वजनिक मीटिंग की समाप्ति पर श्री ऐण्ड्रूज़ से मेरा परिचय करा दिया। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धीर्भवति तादृशी।' किस अपनेपन के साथ मिले! मैं उनका पूर्व-परिचित नहीं हूँ—ऐसा लगा ही नहीं। वे ११२ गोवर स्ट्रीट (लन्दन) में रहते थे। एक दिन वहाँ आने की प्रतिज्ञा करने पर ही उनसे विदा मिल सकी।

श्री ऐण्ड्रूज़ की याद के साथ उन 'पंडितजी' की याद गुथी हुई है, इसलिए उनका भी परिचय करा दूँ। वैसे असाधारण व्यक्तित्व भी

मेरे देखने में बहुत कम आए हैं। वे दाक्षिणात्य थे। संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। प्राचीन ग्रन्थों की खोज और उनका सम्पादन ही उनका मुख्य कार्य था। हिन्दी नहीं जानते थे, इसलिए इंग्लैण्ड में दो भारतीयों को अंग्रेज़ी में बोलने का 'पाप' करना पड़ता था। अंग्रेज़ी बोलते, तो स्पष्ट मालूम होता कि संस्कृत बोलने-लिखने में उन्हें जो व्याकरण की अत्यधिक पाबन्दी करनी पड़ती है, उसकी सारी कसर अंग्रेज़ी पर निकालना चाहते हैं। बात जो भी करते थे, काम की। मैंने पूछा—'पंडित जी, संस्कृत के सरल ग्रन्थ तो लग जाते हैं, कठिन नहीं लगते, क्या किया जाय?' बोले—'एक बार पढ़ो, दो बार पढ़ो, तीन बार पढ़ो, तब भी समझ में न आवे, तो अनुवाद करने बैठ जाओ। यही न समझ में आने की सज़ा है।' बात कुछ टेढ़ी सी मालूम देती है कि जो चीज़ समझ में ही नहीं आती, उसका अनुवाद कैसे करें! लेकिन है सच। आदमी अनुवाद करने के लिए जब बैठता है, तब बिना प्रत्येक शब्द समझे, उसकी गाड़ी चल ही नहीं सकती, और वैसी गहराई के साथ समझने की कोशिश करने वाले को, वैसा ज़ोर लगाने वाले को झख मार कर प्रत्येक चीज़ समझ में आयेगी ही। लिखने के बारे में भी वह कहते थे—'तुम कितना भी अच्छा लिखो, 'सबसे अच्छा' कभी नहीं लिख सकते। तुम से अच्छा लिखने वाले लोग हैं और रहेंगे। इसलिए 'सबसे अच्छा' लिखने की आशा में हाथ पर हाथ धरकर कभी मत बैठो रहो। तुम जितना अच्छा लिख सकते हो, लिखो और उसे छपने को दे दो। यदि उसमें कोई दोष निकाले और तुम्हें ठीक जँचे, तो झट धन्यवाद कह कर उसे स्वीकार कर लो।' उन्होंने बताया कि—'मैं छपते-छपते भी अपने लेख की ग़लतियाँ स्वीकार करने और सुधार करने के लिये तैयार रहता हूँ, लेकिन लिखने और छपने में आलस्य कभी नहीं करता।'

सचमुच हमने वैसे अप्रमादी आदमी जीवन में बहुत कम देखे हैं। ज़रा कल्पना कीजिए इंग्लैंड की धुन्ध की, सर्दी की, बूँदा-बाँदी की। उनका कार्यक्रम था—प्रातःकाल तीन बजे से पहले ठंडे पानी से

स्नान अवश्य कर लेना। शाम को आप उन्हें किसी मीटिंग या भोज में चलने के लिए निमन्त्रण दीजिए, वह आपसे एक ही प्रश्न करेंगे कि मीटिंग या भोज आठ बजे से पहले समाप्त हो जायगा या नहीं? नौ बजे से पहले सो जाने और रात को २ बजे उठ बैठने के नियमित जीवन में व्यवधान पड़ ही नहीं सकता था। वे उन दिनों उत्तरी ध्रुव के आस पास पहुँच कर 'छः महीने की रात और छः महीने का दिन' देखने की फ़िक्र में थे।

मेरी अपनी पोशाक भी लन्दन में असाधारण ही थी—नीचे से ऊपर तक पीले चीवर। लेकिन मैंने तो वस्त्र के बारे में एक धार्मिक मर्यादा स्वीकार कर रखी थी और है। तारीफ़ थी पंडित जी की। वे बिना किसी धार्मिक पाबन्दी के लन्दन की सड़कों पर अपनी धोती और कुर्ते में ही घूमते थे। सिर पर सदैव विराजमान रहती एक सफ़ेद पगड़ी। जब कभी इच्छा होती, वे मेरे निवास स्थान पर पधारने की कृपा करते। एक दिन वापस जाने के समय मैंने अपने एक मित्र को उन्हें पहुँचा आने के लिए साथ कर दिया। लौटकर उन्होंने बताया कि हल्की बूँदा-बूँदी में जब वे पंडित जी के सिर पर छतरी तानने लगे, तो उन्होंने कहा—'छतरी तुम नौजवानों के लिए है। हमें उसकी ज़रूरत नहीं।' उनकी आयु थी ६० वर्ष के आस पास।

हाँ, तो जिस दिन मैं श्री ऐण्ड्रूज़ से मिलने गया, उस दिन पंडित जी भी साथ थे, और इसीलिए मैंने उनका इतना परिचय 'अस्थाने' नहीं समझा। श्री ऐण्ड्रूज़ वाई० एम० सी० ए० की भारतीय शाखा के मकान में रहते थे। भारतीयों को वहाँ रहने में प्रायः बड़ी सुविधा रहती है, इससे पंडित जी भी वहीं ठहरे थे। पहले से निश्चित समय पर मेरे सिंहल मित्र मुझे और पंडित जी को श्री ऐण्ड्रूज़ के कमरे में ले गये। छोटा-सा कमरा था। उसमें ऐसी कोई असाधारण बात नहीं थी जो याद रहे। एण्ड्रूज़ ने उठ कर कमरा खोला और हम तीनों को तीन कुर्सियाँ देकर बात चीत शुरू की। क्या क्या बातें हुईं, प्रायः भूल गई किन्तु एक बात वह कभी न भूलने वाली नहीं। उन्होंने—

पूछा—'तुमने मेरी नई किताब 'What I owe to Jesus Christ' पढ़ी ?'

मैंने कहा—"मैंने उसकी आलोचना पढ़ी है। उसमें आपने बुद्ध के बारे में भी कुछ लिखा है। मैं उसे जल्दी ही पढ़ना चाहता हूँ।"

ऐन्ड्रूज़ बोले—"मैं अपने से प्रकाशक को लिख दूँगा कि वह आपको एक प्रति भेज दे।"

पंडित जी—"आपकी पुस्तक का प्रकाशक कौन है ?"

ऐन्ड्रूज़—"मैं अपने प्रकाशक को लिखूँगा कि आपको भी एक पुस्तक भेज दे।"

पंडित जी कट गये। अपनी झेंप छिपाने के लिए संस्कृत के इतने बड़े विद्वान होकर भी उन्होंने एक बड़ी ही असंस्कृत बात कही। बोला—'मेरा ट्रङ्क आगे ही किताबों से भरा है। उसमें और किताब अँटेगी नहीं।'

मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ, जब मैंने ऐन्ड्रूज़ को कहते सुना—'अच्छी बात है, मैं अपने सेक्रेटरी को कह दूँगा कि वह आपको किताब दे दे और जब आप किताब पढ़ चुके तो वापस ले ले।'

उस अनधिकारी की संगति के फलस्वरूप मुझे भी मेरी पुस्तक आज तक नहीं मिली। लेकिन एक शिक्षा अवश्य मिली कि ऐन्ड्रूज़ को भले ही दुनियाँ 'भोला' समझे; लेकिन वह वैसे 'भोले' न थे।

× × ×

फिर पिछली बार उनके दर्शन गोरखपुर में हुए। सेन्ट ऐन्ड्रूज़ कालेज में व्याख्यान था। निमन्त्रण पाकर मैं भी सुनने गया। शरीर और मन पहले से भी अधिक तपः पूत, सन्त ऐन्ड्रूज़ के अन्तिम दर्शन थे। 'प्रिय का विप्रयोग न हो, यह इस संसार में कहाँ मिलेगा।'



वह मेरा नाम-राशि

मैं गोरखपुर सम्मेलन में न जा सका था। इसलिये उसके मंत्री श्री राजनाथ पाण्डेय द्वारा 'कर्मवीर' में प्रकाशित रिपोर्ट बड़ी उत्सुकता से पढ़ने लगा। रिपोर्ट में श्री परमानंद पोद्दार का नाम देखकर प्रसन्नता हुई कि उन्होंने सम्मेलन का हिसाब किताब बहुत ठीक-ठीक रखा। लेकिन यह क्या ! अगली ही चार पंक्तियों में परमानन्द पोद्दार के अग्रज श्री आनन्द शङ्कर के कारुणिक निधन का समाचार है! आँखों में अन्धेरा सा छा गया। मैं गोरखपुर में श्री महावीर प्रसाद 'पोद्दार' के बाग में लगभग दो वर्ष रहा हूँ और उनका घर मेरे लिये घर ही रहा है। परमानन्द को तब घर के सब लोग 'परमा' ही कहते थे। इसीलिये जब यह पढ़ा कि उसने सम्मेलन के कोषाध्यक्ष का काम कर एक सार्वजनिक जिम्मेवारी सिर पर ली तो बड़ा हर्ष हुआ। लेकिन आनन्द शंकर पोद्दार से तो—जिन्हें हम सब आनन्द ही कहते थे—बड़ी-बड़ी आशायें थीं। वह गोरखपुर में पढ़ते थे तो अपने कालेज के मेधावी छात्र थे और कलकत्ते एम० ए० पास करने गये तो जिस पर्चे में देखो उसी में आनन्द प्रथम। अर्थ शास्त्र का उनका ज्ञान ऐसा था कि वे आचार्य, जिनकी कामना रहती है—पुत्रादिच्छेत् पराजयं—उसे छात्र रूप में पाकर बड़े ही प्रसन्न थे। आनन्द गांधीवादी पिता के साम्यवादी पुत्र थे।

सन् '४२ का तूफान उठा। पिता के जेल जाने के बाद आनन्द शंकर भी जेल गये; लेकिन पिता के छूट आने पर भी वह जेल मे थे। पिछले ही दिनों पता लगा कि आनन्द जेल से छूट गये हैं। मैं प्रतीक्षा

कर रहा था उस घड़ी की जब गोरखपुर जाकर आनन्द से भेंट कर सकूँगा ।

पिछली बार गोरखपुर गया तो मेरे एक स्नेही भी साथ थे । मैं उन्हें आरोग्य-मन्दिर में रख कर उनकी चिकित्सा कराना चाहता था। मैंने कहा था—"आनन्द ! विट्ठल (आरोग्य मन्दिर के श्री विट्ठलदास 'मादी') इनकी चिकित्सा करेंगे। मैं पथ्य की व्यवस्था करूँगा। तुम इनके लिये उचित निवास स्थान की व्यवस्था करना।"

और पिछला पत्र जो आनन्द का आया वह उसकी जागरूकता का परिचायक है। उसे ज्योंही जेल में पता लगा कि राहुल जी रूस जा रहे हैं उसने उनका पता पूछा और पुस्तकों की एक बड़ी सूची लिख भेजी जो आनन्द चाहता था कि राहुल जी उसे रूस पहुँचते ही भेजें।

श्री आनन्द शङ्कर पोद्दार का अध्ययन इतना गहरा और प्रतिभा सम्पन्न था कि मैं प्रायः सोचा करता था कि वह उस दिन हमारे राष्ट्र के लिये बहुत ही उपयोगी होगा जिस दिन हमारा राष्ट्र किसी साम्यवादी समाज के निर्माण में लगेगा।

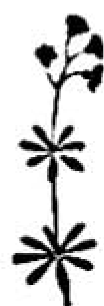
लेकिन यह 'कर्मवीर' क्या कह रहा है ! आनन्द का 'बिन खिले मुरझा जाना' यूं ही इतना कारुणिक है ! फिर कोई और करुण-कथा तो इसके पीछे नहीं छिपी है ! व्यग्रता है—लिख कर पूछूँ ? लेकिन किस से ! पोद्दारजी से !

उस दिन रात को सब खिली चाँदनी में छत पर लेटे थे। कोई मुझे सम्बोधन करता था—स्वामीजी। कोई सम्बोधन करता था—भिक्षु जी। कोई सम्बोधन करता था—भदन्त जी। कोई सम्बोधन करता था—कौसल्यायन जी। कोई सम्बोधन करता था—आनन्द जी। मैंने कहा—सब मिल कर एक सम्बोधन निश्चित कर लें। तरह-तरह के सम्बोधनों से मुझे हैरानी होती है—कैसा लगता है। पोद्दार जी बोले—हम तो 'आनन्द जी' ही कहा करेंगे। हमें इसमें आनन्द याद आता है। पोद्दार जी ने उस रात मुझमें आनन्द को देख कर आनन्द शङ्कर के प्रति ही नहीं अपने प्रति भी एक बड़े

मधुर भाव का संचार कर दिया! आनन्द अब मेरे लिये एकदम मेरा छोटा भाई बन गया। त्रिपुरी कांग्रेस के समय मेरी आंखों में तकलीफ़ थी। आनन्द ने हठ किया—साथ ले चलूँगा। सारे रास्ते जगह जगह गर्म पानी की व्यवस्था कर वह आंखों की चिकित्सा करता रहा, और साथ त्रिपुरी कांग्रेस ले गया।

जो आनन्द को नहीं जानते थे वे नहीं ही जान पायेंगे कि आनन्द को गवां कर पोद्दार जी ने क्या गंवाया है, और पोद्दार जी ने ही नहीं, हम सब की जननी भारत मां ने!

प्रिय आनन्द! 'भन्ते' की मङ्गलकामना।



आरोग्य का सब से बड़ा साधन—धार्मिकता

कभी कभी सुनी हुई कहानी को दुबारा सुनना मुफ़ीद होता है। आपने यह कहानी अवश्य सुनी या पढ़ी होगी।

लाल टोपियों का एक सौदागर सिर पर गठरी रक्खे घर-घर टोपियाँ बेचता फिरता था। एक दिन दोपहर के समय—जब कड़ी गर्मी पड़ रही थी—थका-माँदा सौदागर अपनी गठरी को सिर के नीचे रख एक पीपल के वृक्ष की छाया में लेट गया। कुछ ही देर में उसे नींद आ गई।

उसी पीपल पर बहुत से बन्दर रहते थे। सौदागर को लाल रङ्ग की ख़ूबसूरत टोपी ओढ़े देख, उनके दिल ने भी उन्हें एक-एक टोपी पहनने को कहा। बस फिर क्या था, सौदागर के सिर के नीचे से एक-एक टोपी खिसकनी शुरू हुई। थोड़ी ही देर में सभी के सिर पर एक एक टोपी थी और गरीब सौदागर की गठरी ख़ाली।

आँख खुलने पर जब उसने अपनी गठरी को खाली पाया, तो बड़ा हैरान हुआ, लेकिन ज्योंही दरख़्त पर नजर गई, तो देखता क्या है कि हनुमानजी की सेना एक एक टोपी ओढ़े एक डाली से दूसरी डाली पर कूद रही है। करता क्या? कुछ समझ में न आया। लाचार होकर बन्दरों के पीछे भागा। वे भला किसके हाथ आते हैं?...डराया धमकाया, तो बन्दरों ने भी नक़ल बनाई—बन्दर भभकी दी। जब सौदागर का कोई उपाय सफल न हुआ, तो बिचारा खीझ उठा। बोला—"अरे! सब टोपियाँ ले गए, एक यह भी क्यों नहीं ले जाते।" इतना कहा और आपने सिर की टोपी ज़मीन पर दे मारी। बन्दरों ने भी तुरन्त नक़ल की। अपने अपने सिर की टोपी उतार

ज़मीन पर फेंक दी। सौदागर ने सब टोपियाँ इकट्ठी कीं और खुश हो लेकर चल दिया।

× × ×

आप इसे केवल बन्दरों की कहानी समझते हैं। नहीं, यह समाज के धार्मिक शोषण की भी कहानी है। बन्दरों से टोपियां लेने के जहाँ सौदागर के और सब उपाय असफल हुए, वहाँ अपने सिर की टोपी उतार फेंकना, उसका "त्याग करना" सफल हो गया। ठीक इसी प्रकार जनता के शोषण करने के जहाँ दूसरे उपाय सफल न रहे, वहाँ "त्याग करना" सफल हो गया। किसी व्यक्ति-विशेष ने सचाई से या धोखा देने की ही ग़रज़ से "त्याग" किया: लोगों ने भी उसका अनुकरण कर स्वेच्छा से, सचाई से "त्याग" किया—दान दिये। इतिहास ने इस बात को बार-बार देखा कि उसी व्यक्ति ने अथवा उसके चेले-चाटों ने लोगों के त्यागे हुए माल से अपने को मालोमाल कर लिया।

इस प्रकार दूसरों को "त्याग" के लिये प्रेरित करना सङ्गठित-धर्मों के हाथों में शोषण का एक महान् अस्त्र है।

आख़िर लोग यह "त्याग" क्यों करते हैं? कुछ "त्याग" की उदात्त भावना से प्रेरित होकर, लेकिन अधिकांश तो स्वर्ग के लालच और नरक के भय के कारण ही। क्या ईसाइयत, क्या इस्लाम, क्या हिन्दू-धर्म, क्या बौद्ध धर्म, क्या जैन धर्म—कोई भी धर्म अपने आपको स्वर्ग नरक के माया-जाल से मुक्त न रख सका। लोगों के शोषण के इतने बड़े साधन को कोई भी सङ्गठित धर्म कैसे छोड़ सकता था! स्वर्ग-नरक की कल्पना लोगों को शोषित करने ही के लिये भले न हुई हो, लेकिन इसमें शक नहीं कि स्वर्ग का लालच और नरक का भय धार्मिकता के हाथों में शोषण का ही महान् अस्त्र सिद्ध हुआ।

जब से समाज विकसित होकर इस योग्य हुआ कि उसमें कुछ लोगों के लिए पुरोहित-शाही पेशा बन सके, तब से जिस जिस समय में समाज में जिस जिस वर्ग के हाथ में शक्ति रही, पुरोहित-शाही हर बात में उसी वर्ग का समर्थन करती रही। आज रूस को छोड़ कर संसार

के सभी देशों में पूंजीवाद का बोलबाला है; इस लिए इस युग के पुरोहित—वे किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय के हों—पूंजीवाद के समर्थक हैं। जो पूंजीपति दूसरे की पसीने की मेहनत को लूट कर अपनी तिजोरी भरे हुए हैं, उस पूंजीपति की उस कमाई को पुरोहित-शाही कहती है कि वह "ख़ुदा की बरकत है," "ईश्वर की कृपा है" और नहीं तो उनके "अपने कर्मों" का फल है। अन्तिम व्याख्या से हम भी कुछ-कुछ सहमत हैं। फ़रक इतना ही है कि "कर्मों के फल" का अर्थ हम समझते हैं "कुकर्मों का फल"।

पुरोहित-शाही—चाहे वह ईसाई पादरियों की हो, चाहे मुसलिम-मुल्लाओं की हो, चाहे साधु-ब्राह्मणों की हो, चाहे बौद्ध भिक्षुओं की हो—अपने दाताओं के "दानों" का समर्थन कर और उन्हें बदले में "स्वर्ग-लाभ" के आशीर्वाद देकर उस सामाजिक व्यवस्था का समर्थन करती रहती है, जिसमें आदमी को दूसरों की कमाई लूटकर उसका एक थोड़ा-सा अंश "दान" करके "दानवीर" कहलाने की स्वतन्त्रता है।

इस प्रकार धार्मिकता के हाथों में पुरोहित-शाही शोषण करने का दूसरा महान् शस्त्र है।

मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं—अन्न, वस्त्र, घर इत्यादि। क्या यह महान् आश्चर्य नहीं कि किसी भी धार्मिक संप्रदाय के नेता को अन्न, वस्त्र, घर आदि इह-लोक के सुख-साधनों की न कमी ही रहती है और न वह इनकी प्राप्ति की ओर से उदासीन ही रहता है; लेकिन हर धार्मिक नेता अपनी-अपनी भेड़ों (अनुयाइयों) को यही उपदेश देता है कि 'यह सब माया है। असली चीज़ ब्रह्म है, ख़ुदा है, स्वर्ग में के पिता हैं!' अफ्रीका के नीग्रो लोग रोते हैं, कहते हैं कि ईसाई पादरी उनके देश में आये और बोले:—'ऊपर देखो, ख़ुदा है,' बिचारों ने ऊपर देखा; लेकिन जब कुछ देर तक ख़ुदा की ओर देखते रहने के बाद नीचे देखा, तो क्या देखते हैं कि उनके पैरों के नीचे की ज़मीन ग़ायब है।

हमारे अपने यहाँ उपनिषदों के ऋषि राजा जनक के दरबार में शास्त्रार्थ करते थे। विषय प्रायः यही होता था कि ब्रह्म क्या है! लेकिन वे ब्रह्मवादी ऋषि भी शास्त्रार्थ में विजयी होते थे, तो अपने शिष्यों को राजा जनक की वह गौवें, जिनके सींगों में अशर्फ़ियाँ बँधी रहती थीं, खोलकर ले चलने के लिए कहना न भूलते थे।

ऋषियों का 'ब्रह्मवाद' दूसरों के लिये था। दूसरों की गौवें और अशर्फ़ियाँ ऋषियों के लिये।

इस प्रकार अपने अपने 'वादों' के माया-जाल में फँसे हुए अपने-अपने भक्तों के सामने भौतिक साधनों का महत्व घटाना और 'अदृश्य' की महिमा गाना, धार्मिकता के हाथ में शोषण का तीसरा साधन है।

आप किसी सभा सोसाइटी में चले जाइये—यहाँ हमारा मतलब धार्मिक संस्थाओं से ही है—वहाँ 'पूजा' भले ही किसी अतीत के आदर्श की होती हो, लेकिन वर्तमान में तो उन्हीं लोगों का आदर होता है जो सीधे अथवा घुमा-फिराकर वर्तमान पूँजीवादी-व्यवस्था के स्तम्भ हैं। किसान-मज़दूर न किसी धार्मिक संस्था के सभासद मिलेंगे, न पदाधिकारी। हाँ, लाखों करोड़ों धार्मिक जन्तु उन्हीं के टुकड़ों पर पलते अवश्य हैं।

इस प्रकार शोषण-कर्त्ताओं का ही आदर करना धार्मिकता के हाथ में शोषण का चौथा साधन है।

जो जैसा है, उसे वैसा जानने की उत्कट साध—सत्य; उस सत्य की प्राप्ति के लिये हर प्रकार के कष्ट सहने की प्रवृत्ति—तपस्या, उस तपस्या को करते समय इधर-उधर भटकने से बचना—संयम; इस प्रकार के जो अनेक मानवी गुण हैं उनका अपना महत्व है। जो उन गुणों के धनी रहे हैं, अथवा हैं, उन सबके सामने हम अपना मस्तक नत करते हैं, उनकी चरण धूलि अपने सिर पर लेते हैं। लेकिन हम यह नहीं मानते कि "धार्मिकता" के ये गुण "धार्मिक" लोगों की बपौती रहे हैं, वा हैं। वैसे महाप्राण "धर्मों" के क्षेत्र में भी हैं, और "धर्मों" से बाहर भी। अन्तर केवल इतना है कि "धर्मों" के क्षेत्र

में इन गुणों के एक वास्तविक धनी के साथ केवल इन गुणों का नाम लेकर, जप करके, जीविका चलाने वालों की एक बड़ी जमात रही है, और है।

यह शोषण पूँजीवाद के रहते कभी बन्द होगा; इसमें पूरा सन्देह है। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दोनों का जीवन एक दूसरे पर निर्भर है।



मेरे नाम की लम्बाई

यूँ मेरा नाम कोई बहुत लम्बा नहीं है, लेकिन फिर भी क्या कुछ कम लम्बा है—भदन्त आनन्द कौसल्यायन। आखिर यह इतना लम्बा क्यों है?

अठारह उन्नीस वर्ष पहले की बात है। हमारे सभापति पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी की भाषा में मेरे दिमाग़ में एक सूझ ने जन्म लिया था। हमारे देश में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के मठ हैं और उनके पास बड़ी बड़ी सम्पत्तियाँ। वह कुछ लोगों की ऐयाशी का साधन बनने के अतिरिक्त किसी के कुछ काम नहीं आतीं—उन्हें देश के काम में क्यों न लगाया जाय? देश के काम में कुछ अपना काम भी सध सकता था। यह कैसे हो? उपाय सुझाया गया कि इन महन्तों में से किसी एक का शिष्य हो जाना चाहिये। फिर उसके मरने पर या जीते-जी भी जितनी सम्पत्ति देश के काम में लगायी जा सके लगायी जाये। प्रस्ताव ठीक था, स्वीकृत हुआ। मैं बिहार प्रदेश के एक मठ में चेला बनने के लिये भर्ती हुआ। पाठक उत्सुक होंगे, कौनसा मठ? किस गाँव का मठ? किस तहसील का मठ? किस ज़िले का मठ? यह सब अभी न बताऊँगा। अभी इतना ही जान लें कि उस मठ में घोड़ा हाथी थे। आठ गाँव की जमींदारी थी—बहुत बड़ा मठ नहीं था वह, बहुत छोटा भी नहीं। गुरु जी विशेष प्रसन्न थे कि पढ़ा-लिखा चेला मिला है। मैं अभी चेला बना न था, हाँ भावी चेला बन गया था। प्रातःकाल उठते ही पहला काम गुरु जी के चरणों पर सिर रख कर प्रणाम करना होता। दो चार और चेला होने के उम्मीदवार थे, लेकिन अब वे सब निराश हो गये थे। मेरे साथ किसी का कुछ मुकाबला ही नहीं था। वे अनपढ़ थे और मैं 'कितना पढ़ा-लिखा'! सिर

मुड़ाने पर क्या नाम होना चाहिये, यह बात मैं कभी कभी सोचता था। वह मठ था 'गिरि' नामा। मुझे आनन्द नाम प्रिय था। सोचता था मेरा नाम होगा—आनन्द गिरि।

पुरानी कथा है कि कुमारिल भट्ट चला जा रहा था। किसी लड़की ने कहा—

किं करोमि क गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यते।१

उसका उत्तर कुमारिल ने दिया—

मा विषीद वरारोहे! भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।२

मैंने भी उसी का नकल कर गुनगुनाना शुरू किया—

किं करोमि क गच्छामि को लोकानुद्धरिष्यति।३

और अपने एक श्रद्धा-भाजन व्यक्ति को सम्बोधित करते स्वयं उत्तर देता—

मा विषीद तपस्विन् त्वं! गिर्यानन्दोऽस्मि भूतले।४

हाँ, मुझे अपने आपसे उस आनन्द-गिरी से कुछ ऐसी ही आशा थी। पाठकों को हँसी आयेगी। दया करके पाठक हँसे नहीं। इसी से मिलती-जुलती दूसरी बात याद आ गयी। वह भी कहता हूँ। मैंने नेपोलियन बोनापार्ट के जीवन चरित्र में उसका कथन पढ़ा था—मैं अपनी बाईबल और तलवार के बल पर संसार में अपना रास्ता बनाऊँगा५। बाईबल की जगह गीता को देकर मैंने भी गुनगुनाना शुरू किया--

असिना गीतया चाहं जयिष्ये भुवनत्रयम्।६

यह थे उस समय के शेख़-चिल्ली आनन्द-गिरि के स्वप्न!

---

१ क्या करूँ कहाँ जाऊँ, वेदों का उद्धार कौन करेगा?

२ हे देवी! विषाद मत कर। पृथ्वी पर (कुमारिल) भट्टाचार्य विद्यमान हैं।

३ क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, लोगों का उद्धार कौन करेगा?

४ हे तपस्वी! तू उदास मत हो। पृथ्वी पर 'आनन्द गिरि' विद्यमान हैं।

५ विथ माई बाईबल एन्ड माई सोर्ड, आई शैल कार्व माई वे थ्रू दी वर्ल्ड।

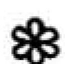
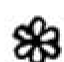
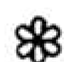
६ गीता और तलवार की सहायता से मैं तीनों लोकों को जीतूँगा।

उस मठ में मैं कुछ दिन रहा—कुछ ही महीने। गुरु जी अपने भक्तों—ख़ुशामदियों—की मण्डली में विराजमान होकर गाँजे के दम-पर-दम लगाते थे। एक दिन मुझसे कहा—चिलम पकड़ा दो। सिगरेट को भी न छूने वाला मैं, और चिलम हाथ में थमा देने की मुझे आज्ञा मिली। मैंने उठा चिलम कर दे दी, लेकिन साथ ही नौकर को बुला कर कहा--लाओ हाथ धुलाओ। गुरु जी समझ गये कि है तो चेला; लेकिन अपना पृथक् व्यक्तित्व रखता है और रखना चाहता है। मैंने भी तब तक देख लिया था कि मठ की जो आमदनी गाँजा तमाखू की चिलमों पर उड़ रही है, उसे देश के काम में लगाना आसान नहीं। दृष्टि और प्रवृत्ति का यह भेद हर बात में स्पष्ट होने लगा।

एक बात। मठ में कुछ लड़के थे—नौकर। बरतन मलना, कपड़े धोना, चिलम भरना यही सब उनका काम रहता। खाने को उन्हें मिलती गुरु जी के प्रधान चेले की जूठन। वह उन्हें पसन्द भी विशेष थी; क्योंकि यदि खिचड़ी बनती तो उसमें घी रहता, जो सब की खिचड़ी में नहीं डाला जाता था। मुझे यह जूठन खिलाना घृणास्पद लगता। मैंने रसोइये को कहकर खिचड़ी की मात्रा कम, और कम लेनी शुरू की, जितने में न थाली में खिचड़ी बचे और न वे लड़के जूठी खिचड़ी खायें। 'गधे को दिया था नमक, बोला मेरी आँख ही फोड़ दी' कहावत ऐसे ही समय पर चरितार्थ होती है। मैं लड़कों को जूठी खिचड़ी से बचाना चाहता था और वे समझते—यह कैसा पेटू है, हमारे लिये खिचड़ी छोड़ता ही नहीं। हाय रे उस जूठी खिचड़ी में सने हुये घी के कुछ कण! उन्होंने मुझे उन लड़कों की दृष्टि में पेटू बनाया। दृष्टि और प्रवृत्ति का यह भेद और स्पष्ट होने लगा।

एक और बात। पास में कुआँ था। मैं उस पर नहाने जाता खड़ाऊँ पहन कर। बिहार-प्रान्त में यूँ ही बिना नौकर के नहलाये बाबू साहब का स्नान नहीं होता और मैं तो महन्तजी का चेला था। एक दिन अपनी धोती स्वयं उठाये कुँए पर चला गया। हलकी डाँट

पड़ी—नौकर किस लिये हैं ? मेरी समझ में आ गया कि साल छः महीना यहाँ रह गया तो धोती-गमछा उठाने की भी सामर्थ्य गँवा बैठूँगा। नमक की खान में रहा तो नमक हो जाऊँगा। चाहता हूँ मठ की सम्पत्ति देश के काम में लगाना; लेकिन मैं ही देश के काम का न रह जाऊँगा—बन जाऊँगा मठ की दीवारों की एक ईंट। मैंने अपने गुरुजी से विदा ली और विदा ली उस मठ के घोड़े-हाथी से और अपने उस संकल्प से जो मुझे उस मठ में खींच ले गया था। मैं आनन्द-गिरि बनते बनते बचा।

लगभग दो ही वर्ष बाद मैं सिंहल में था। मद्रास-कांग्रस के बाद ठीक १९२८ में। उस सन्यासी-मठ में तो मुझे वहाँ की सम्पत्ति खींच ले गई थी, इस बौद्ध मठ में क्या चीज़ खींच लाई? यहां भी सम्पत्ति लेकिन एक दूसरी तरह की। आदमी कोई भी कार्य प्रायः एक कारण से नहीं करता—अनेक कारणों से करता है। मेरी सिंहल-यात्रा के भी अनेक कारण थे। उनमें एक था दिमाग़ में कुछ दार्शनिक खुजलाहट। मेरी शिक्षा-दीक्षा जिस वायु-मंडल में हुई थी वहाँ 'वेद सब विद्याओं का भण्डार है' का मन्त्र गूंजता था। इसी बात के फेर में मैं बहुत दिन वैदिक-व्याकरण की एक पोथी थैले में डाले घूमता रहा। एक समय था जब 'वेदों में सब ज्ञान है वा नहीं?' यह प्रश्न मेरे लिये बड़े महत्व का था। आज न होने से उस समय का महत्व नहीं घटता। वेदों की यह सीधी-सादी बात ही दार्शनिकों के लिये शब्द-प्रमाण का पचड़ा है। मैंने अधिक संस्कृत न तब पढ़ी थी, न अब तक पढ़ी है। संस्कृत के जिन ग्रन्थों के अध्ययन ने मेरी जीवन-धारा को प्रभावित किया उनमें मैं शङ्कर के 'वेदान्त-सूत्रों' के भाष्य को कभी न भूलूँगा। 'ब्रह्म' की सिद्धि के लिये 'शास्त्रयोनित्वात्' अर्थात् शास्त्र से उत्पन्न होने की प्रामाणिकता और शास्त्र की प्रामाणिकता के लिये उसका ब्रह्मोत्पन्न होना पर्याप्त है। अन्योन्याश्रय का विचित्र उदाहरण ही नहीं, उस समय तो यह पूरा गोरख-धन्धा लगा। तब तक मुझे पता नहीं था कि

भारत में कुछ दर्शन वेदों की परावलम्बता से मुक्त भी हैं। बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन ऐसे ही दर्शनों में से दो हैं। वेदों की परावलम्बता से क्या, बौद्ध-दर्शन तो बुद्ध की परावलम्बता से भी मुक्त है। बुद्ध ने कहा है—जिस प्रकार सुनार सोने को परीक्षा करके ही 'खरा' स्वीकार करता है उसी प्रकार तुम भी मेरे वचन की परीक्षा करके ही उसे स्वीकृत करो।* जब मुझे यह पता लगा तो मेरे दिल की कली खिल गई। जीवन में इतनी बड़ी और सम्पत्ति मिली ही नहीं। अन्य अनेक बातों का विचार करके जब मैंने सिंहल में भिक्षु की दीक्षा लेना तय किया तो फिर वही प्रश्न सामने आया—नाम क्या हो? राहुल जी उन दिनों वहीं थे। हाँ तब तक आप बाबा रामोदारदास ही थे। मेरे वही मध्यस्थ बने थे। उन्होंने पूछा नाम क्या पसन्द करोगे? नाम तो अब भी मुझे आनन्द ही पसन्द था, लेकिन मैंने उपेक्षा भाव से कहा—जो गुरु जी दे दें। शाम को मुझे ही नहीं, राहुल जी को भी यह जान कर परमाश्चर्य हुआ कि गुरुजी मेरा नाम आनन्द रखना चाहते हैं।

५ फरवरी १९२८ को मेरी प्रव्रज्या हुई। नाम मिला—आनन्द। सिंहल में एक नाम के कई भिक्षुओं में भेद करने के लिये, और यूँ भी गाँव का नाम साथ लगाने की प्रथा है। मेरे गुरु जी का ही नाम है धम्मानन्द। उनके गाँव का नाम है लुणुपोकने। इसीलिये हम उन्हें लिखते हैं गुरुवर लुणुपोकने धम्मानन्द। मुझ से लोगों ने पूछा तुम्हारे गाँव का नाम? मैंने सोचा भारत के ७ लाख गाँवों में से एक छोटे-से गाँव का नाम सिंहल में क्या अर्थ रखेगा? और गाँव का नाम साथ रहने से कभी-न-कभी गाँव तक खबर भी पहुँच जा सकती है। राहुल जी की सलाह से अनेक प्राचीन भारतीय भिक्षुओं के नामों के अनुकरण में 'गोत्र' की पूछ साथ लगाना स्वीकृत किया। गाँव न बताकर गोत्र बताया—कोशल। पंजाब में कहावत भी है जिसका कोई गोत्र नहीं उसका गोत्र कोशल। अब लोगों ने आनन्द को कोशलानन्द या कोसलानन्द बना दिया। भारत में

*परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं न तु गौरवात्।

दयानन्द, रामानन्द, सदानन्द, श्रद्धानन्द आदि की कहाँ कमी है कि उनमें एक कोशलानन्द की और भर्ती की जाय ? मैं तो केवल आनंद बना रहना चाहता था। अब मुझे कोई आनन्द न कहकर, कोशलानन्द कहे तो मैं किस-किस की ज़बान पकड़ूं ? आखिर एक उपाय सूझा—कात्यायन, मौद्गल्यायन, सांकृत्यायन के ढंग पर कोशल शब्द से कौसल्यायन बनाया गया। अब मुझे यदि कोई कहता कोशलानन्द तो मैं कहता—नहीं मेरा नाम तो आनन्द कौसल्यायन है। अनुमान ठीक निकला। अपेक्षाकृत दुरूह उच्चारण वाले कौसल्यायन को सबने छोड़ दिया। मैं अपने सिंहल भाइयों के लिये आनन्द का आनन्द ही रह गया। लेकिन एक दुष्परिणाम भी हुआ। लिखने-पढ़ने में आनन्द कौसल्यायन मेरे गले मढ़ गया।

अब एक दूसरी समस्या सामने आयी। नाम के पहले आदर सूचक शब्द क्या हो ? यूं सिंहल में नाम के पहले आदर सूचक शब्द न लगाकर पीछे लगाने की प्रथा है। मेरा ही नाम लेना हो तो कहेंगे आनन्द स्वामिन्वहंस अर्थात् आनन्द स्वामी जी। लेकिन यूरोपियन पादरियों के अनुकरण पर रेवरण्ड शब्द पहले भी लगता है। सन् १६२६ के मेरे अपने एक दो लेखो पर लेखक के नाम के साथ रेवरण्ड शब्द जुड़ा हुआ है। मुझे वह बुरा लगता था—विदेशीपन और ईसाईयत की गंध आती थी उसमें। पहले कुछ-न-कुछ शब्द लगेगा तो अवश्य ही, अब रेवरण्ड न लगे तो क्या लगे ? बड़े संकोच और झिझक के साथ हम कुछ मित्रों ने 'भदन्त' शब्द चलाना चाहा—मित्रों के पत्रों पर पतों के स्थान में जहाँ 'रेवरण्ड' लिखा रहता है 'भदन्त' लिखना शुरू किया। दूसरों के नाम के साथ हमने 'भदन्त' शब्द का व्यवहार करना आरम्भ किया और दूसरों ने हमारे। अब मेरा नाम हो गया 'भदन्त आनंद कौसल्यायन'। प्रयत्न था छोटे से छोटा नाम हो—आनंद, भाग्य में बदा था बड़े से बड़ा—भदन्त आनंद कौसल्यायन।

और गज़ब तो यह है कि कभी कभी हिन्दी वाले उसे शुद्ध करके

महन्त आनन्द कौसल्यायन लिख देते हैं। न जाने उन्हें किसने बता दिया कि मैं एक समय सचमुच महन्त होने ही जा रहा था।

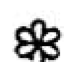
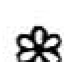
कभी इस देश के आर्य-पुरुषों के नाम छोटे होते थे। हमारे आदर्श महापुरुषों में सभी के नाम छोटे हैं—राम, कृष्ण, भीष्म, अर्जुन, भीम। उनके काम ही महान होते थे। आज पराधीन देश के हम कुपूतों के काम तो सर्वविदित हैं, हाँ नाम खूब बड़े बड़े हैं जैसे—भदन्त आनन्द कौसल्यायन।

अपने नाम की इतनी चर्चा के लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।



आख़िर चश्मा टूटा

उस दिन जब मैंने सिंधिया नेविगेशन कम्पनी (Sindhia Navigation Co.) के डाइरेक्टर श्रीयुत नानावटी के बारे में पढ़ा कि वे अब इस लोक में नहीं रहे तो उनके अनेक उपकारों में से एक उपकार मुझे खास तौर पर याद आ गया। १६३० या ३१ में वह सिंधिया नेविगेशन कम्पनी की कोलम्बो ब्रांच के डाइरेक्टर थे। मैं कभी कभी उनसे कार्य्यवश मिलता। पीछे परिचय अधिक हो जाने पर तो यूं भी मिलता रहा। एक दिन उनके बंगले पर था। वे बातचीत भी कर रहे थे और अख़बार भी पढ़ रहे थे। मैंने देखा बीच बीच में वे अपनी एक आँख को ढक ले रहे हैं और दूसरी अकेली आँख से अख़बार पढ़ रहे हैं। मैंने भी उनकी नकल की। यह क्या? दाहिनी आँख से तो मैं बहुत कम पढ़ सकता हूँ। मैंने नानावटी जी से कहा। बोले—"आँख के विशेषज्ञ को दिखाओ"। २५ वर्ष तक जो आँख "भली-चंगी" थी; आज एक मिनट में "खराब हो गई"।

दो चार दिन में मैंने श्री जयवर्धन से ज़िकर किया। खेद है कि अब वे भी इस संसार मे नहीं रहे। उनसे और उनके परिवार से बढ़ कर सच्चा परिवार मैंने अभी तक सिंहल-द्वीप में नहीं देखा। किसी दिन वह अपनी दो सौ मासिक की नौकरी पर लात मारकर सपरिवार चर्खा-कताई और बुनाई सीखने के लिए सत्याग्रह आश्रम जा पहुँचे थे। उन्होंने अपने लड़के श्री हरिदास को मेरे लिए एक पत्र दिया और अपने परिचित एक डाक्टर के पास लिवा जाने के लिए कहा। मैं उन दिनों जहाँ कहीं जाता पैदल ही जाता था। अपने परिवेण* से छः सात मील चलकर मैं और हरिदास कोलम्बो के उक्त डाक्टर के

*भिक्षुओं का वासस्थान तथा विद्यालय

यहाँ गये। क्योंकि वे आँखों के विशेषज्ञ न थे; इसलिए उन्होंने हरिदास को एक चिट्ठी दे हम दोनों को एक दूसरे डाक्टर के पास—जो कि केवल आँखों का डाक्टर था—भेज दिया। डाक्टर का नाम शायद श्री बिलमोरिया था। पहले डाक्टर ने उनका परिचय देते हुए कहा कि कोलम्बो में वे सबसे बड़े नेत्र-विशेषज्ञ हैं। डाक्टर साहब के यहाँ पहुँचे। उन्होंने परिचय-पत्र पढ़ प्रेम से स्वागत किया। हरिदास को एक कुरसी पर बिठा मुझे अँधेर-गृह में ले गये। वहाँ बड़ी देर तक तरह-तरह के यंत्रों में से मेरी आँखों में झाँककर उनकी परीक्षा की। बाहर आए और नामधाम पूछ कर एक कागज ले उस पर चश्मे का नम्बर लिख दिया। मैंने इतना कष्ट करने के लिए हार्दिक धन्यवाद दिया और विदा चाही। चलने लगा तो सिर पर लाठी पड़ने की तरह डाक्टर साहब की आवाज़ सुनाई दी—Do you wish me to do it for nothing (क्या आप मुझसे मुफ़्त ही यह काम कराना चाहते हैं!)

मेरा ध्यान उधर आकृष्ट हुआ। समझा, यह पैसों की दुनिया है। भिक्षु-नियम के अक्षरशः पालन के फेर में मेरे पास कानी कौड़ी न थी; हरिदास के पास भी कुछ न था। मैंने नम्रता पूर्वक निवेदन किया—"मुझे अफ़सोस है कि मेरा ध्यान इधर नहीं गया। मैं अपने पास पैसा नहीं रखता। आप कृपया कहें कि मुझे आपको कितना देना चाहिए! मैं ज़िम्मा लेता हूँ कि आपके पास उतना पहुँच जायगा।"

मालूम होता है डाक्टर के मन में धर्म-विरोधी संस्कारों की कुछ उथली छाप थी। बोला—लेकिन आप मेरे पास रुपया भिजवाने के लिए किसी को धोखा मत दीजिएगा।

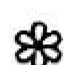
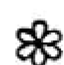
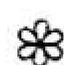
साधु होने पर भी मेरे मिजाज़ में कुछ तुर्शी बाकी थी और है।

उत्तर दिया—एक डाक्टर जब एक अकिंचन भिक्षु को लूट रहा है तो क्या हर्ज है यदि वह भिक्षु भी कहीं न कहीं से कुछ हथिया ले।

डाक्टर को गुस्सा आ गया। उसने मुझे कुछ बुरा-भला कहा। जवाब में मैं क्या कहता! बोला—कोलम्बो में जितने अन्धे हैं उनमें

यदि एक और अन्धा शामिल हो जायगा तो उनकी संख्या कुछ बहुत अधिक नहीं बढ़ जायगी। यह लें अपने चश्मे का नम्बर। धन्यवाद।

डाक्टर ने दरवाज़े की ओर इशारा कर मुझे और हरिदास को बाहर खदेड़ दिया। पैसा मिलने की आशा से जो सम्मान हुआ था वही अब पैसा न मिलने पर अपमान में परिणत हो गया। मैं परिवेण चला आया और हरिदास अपने घर।

दूसरे दिन की डाक में दो चिट्ठियाँ थीं। एक उन्हीं डाक्टर विल-मोरिया की। लिखा था—चश्मे का नम्बर भेज रहा हूँ यदि अस्वीकृत ही हो तो लौटा दें। दूसरी श्रीयुत नानावटी की। लिखा था—डाक्टर के यहाँ से चश्मे का जो नम्बर आया है वह भेज दें। मैं बम्बई से चश्मा मँगवा दूँ।

समझ गया कि हरिदास ने सारा किस्सा अपने पिता को कहा होगा। वहाँ से श्री नानावटी के यहाँ पहुँचा होगा और उन्हीं की कृपा के फल-स्वरूप दोनों पत्र मिले। मैंने डाक्टर को फोन पर धन्यवाद दिया और नानावटी जी को नम्बर भेज दिया। कुछ ही दिन में बम्बई से मेरा चश्मा आ गया। इस प्रकार नानावटी जी मेरे प्रथम चश्मे के दाता रहे।

(२)

सन् १९३२, ३३ इंगलैंड में रहा। सिंहल-द्वीप में लैम्प पर पढ़ता था; इंगलैंड में बिजली की रोशनी से। छत में टँगा हुआ बिजली का लैंप नाकाफी मालूम दिया, तो टेबल-लैंप पर पढ़ना शुरू किया। कुछ दिनों के बाद वह भी नाकाफी मालूम दिया तो छत का और मेज़ का दोनों एक साथ जलाकर पढ़ने लगा। १९३४ में जब मैं सिंहल लौटा तो एक दिन साधारण लैंप के अभाव में मोमबत्ती जलानी पड़ी। यह क्या! मोमबत्ती का प्रकाश इतना कम! उस प्रकाश में पढ़ना, लिखना या कोई दूसरा काम कर सकने की बात तो दरकिनार—स्वयं मोमबत्ती को देखने के लिए भी मुझे एक लैंप की आवश्यकता

मालूम देती थी। समझ गया दो-दो बिजली के लैंप एक साथ जला कर पढ़ने का फल है। काफी दिनों के बाद धीरे धीरे साधारण प्रकाश से संतोष होने लगा।

उन्हीं दिनों मैं कोलम्बो के अपने एक परिचित डाक्टर के पास गया। बातचीत करते हुए देर हो गई। शाम को मुझे अपने स्थान पर लौटना था। डाक्टर साहब कहने लगे—अँधेरा न हो गया होता, तो मैं आपको अपनी गाड़ी में पहुँचा आता। शाम को मुझे कम दिखाई देता है। गाड़ी ड्राइव करते डर लगता है। मैंने पूछा—आप चश्मा नहीं लगाते ?

बोले—I am one of those medical men, who do not believe in these crutches (मैं उन डाक्टरों में से हूँ जो इस लँगड़े की लाठी में विश्वास नहीं करते।)

दो साल तक बराबर चश्मा प्रयोग करते रहने के बाद चश्मे के खिलाफ एक डाक्टर की राय सुनने को मिली। मैं भी अपने चश्मे के बारे में सोचने लगा।

(३)

१९३४ में मैं पीनाङ्ग के कुछ चीन देशीय बौद्धों का निमन्त्रण पाकर वहां गया था। पीनाङ्ग मलाया-प्रायद्वीप का पश्चिमीय तट पर एक छोटा सा—कुल १४ मील लंबा ६ मील चौड़ा—टापू है। बहुत ही सुन्दर जगह है। मैं वहां तीन महीने रहा। एक पाली ग्रन्थ—जातक—के अनुवाद कार्य में व्यस्त था। खाने पीने, ठहरने का हर तरह सन्तोषजनक प्रबन्ध था। बारह बारह घंटे बराबर कलम चलाता। आँखों ने शिकायत करनी शुरू कीं। कोलम्बो के उस डाक्टर के तजर्बे के बाद मैं अनजाने में ही कुछ सहम सा गया था। पीनाङ्ग में उस तरह के डर की ज़रूरत न थी, क्योंकि यहाँ के अनेक उदार चीनी सज्जन मेरी आवश्यकताओं की मुझसे भी अधिक फ़िकर रखते थे। वे मुझे पीनाङ्ग के नेत्र-विशेषज्ञ के पास ले गए। उनकी बड़ी ख्याति थी। वे जर्मन देशीय थे। मैंने जब अपने तीन महीने के जर्मनी-निवास के

फलस्वरूप सीखी गई टूटी फूटी जर्मन में उनसे बातचीत करनी शुरू की तो वे बड़े प्रसन्न हुए। बड़ी अच्छी तरह से मेरी आँखें देखीं भालीं। दूसरे दिन फिर आने के लिए कहा। मैंने चलते समय पूछा, डाक्टर साहब! चश्मा लगाने से अधिक अच्छा दिखाई देता है, यह तो ठीक है; लेकिन मैं जानना चाहता हूँ कि चश्मे का आँखों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

बोले—कुछ नहीं।

मैं—कुछ नहीं?

बोले—हाँ, कुछ नहीं।

अपने निवासस्थान पर लौटा तो मैं सोचने लगा जब चश्मे का आँखों पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता तो मैं चश्मा लूं ही क्यों? क्योंकि मेरी एक ही आँख "ख़राब" थी। दूसरी की सहायता से मैं पढ़ तो ठीक ठीक लेता ही था। पढ़ने से मतलब, दाईं से पढ़ूं या बाईं से। मेरे लिए चश्मे का क्या उपयोग?

दूसरे दिन जब मैं उन जर्मन नेत्र विशेषज्ञ के पास गया तो मैंने उनसे अपने विचार कहे। बोले—हाँ, मैं भी यही सोचता था कि आपको चश्मे की कोई ज़रूरत नहीं। कहते संकोच कर रहा था।

मैंने कहा—तो चश्मा रहने दें।

बोला—नहीं, मेरे पेशे का आग्रह (Professional honesty) है कि आप आए हैं तो मैं आपको चश्मे का नम्बर दे ही दूँ। चाहे आप चश्मा लें या न लें; लगाएँ या न लगाएँ।

उसकी यह बात मुझे कुछ अजीब सी लगी। यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी यह राय मुझ से कुछ रुपये पाने के लिए थी क्योंकि रुपये लेने से उसने पहले ही दिन इन्कार कर दिया था। उसने कहा था—यह संन्यासी हैं। मैं इनकी आँख देखने की फीस नहीं लूँगा।

उसका चश्मे का नम्बर देने का निस्वार्थ आग्रह देख मैंने नम्बर ले लिया। दो एक दिन में चश्मा आ गया। इस प्रकार कुछ चीनी बौद्धों और उस डाक्टर की दया स्वरूप मुझे मेरा दूसरा चश्मा मिला।

चश्मे में मेरी श्रद्धा घट गई थी। अब मैं कभी चश्मा लगाता, कभी नहीं।

(४)

सन् १९३५, या ३६ में सारनाथ में रहते हुए दाहिनी आँख में दर्द हुआ। कुछ दिन पढ़ने-लिखने से आँखों को छुट्टी देने के लिए मैं पटना चला गया। वहाँ बाबू अम्बिका प्रसाद पटना के प्रसिद्ध नेत्र-विशेषज्ञ डा० सुरेन्द्रनाथ घोष के पास ले गए। उन्होंने आँखों में आँख की दवाई (आईट्रोफीन) डाली; जिसके फलस्वरूप तीन चार दिन अंधा रहा। दवाई डालने से पहले और पीछे आँखों की पूरी देख भाल करके चश्मे का नम्बर दिया और कहा इससे तकलीफ दूर हो जायगी। क्या करता चश्मे का नंबर सर आँखो पर लेना पड़ा। पटने के भाई बलदेव नारायण ने कलकत्ते जाने के लिए किराए के पैसे दिये और वहाँ देवप्रिय जी ने अट्ठारह रुपया खर्च करके चश्मा ले दिया। इस प्रकार मुझे तीसरा चश्मा मिला।

मुझे लगने लगा आँखों के कष्ट की चश्मे को छोड़ संसार में दूसरी दवाई नहीं; इसलिए चश्मों के फेर में रहना ही होगा।

(५)

एक साल भी न बीतने पाया था। फिर तकलीफ हुई। किसी विशेषज्ञ की फीस चुकाने के लिए न मेरे पास कभी रुपये हुए हैं, न तब थे। किसी ने सलाह दी लखनऊ के मेडिकल कालेज में जाँच करा लो। मैं लखनऊ गया। वहाँ पूज्य बोधानन्द जी महास्थविर के यहाँ ठहरा। लखनऊ मेडिकल कालेज में एक खास सज्जन की आशा लगाकर गया था। वह पूरी न हुई। आपने किसी मोहताजखाने में 'गरीबों' को चने बँटते देखे हैं? ठीक वैसा ही मेडिकल कालिज की आँख-चिकित्सा को पाया। पहले दिन वहाँ भी एक आदमी ने एट्रोफीन डाली। मेरी ही आँखों में नहीं मेरे साथ अनेकों की। तीन चार दिन अंधे रहने के बाद जब फिर आँख दिखाने गया तो मेडिकल कालेज के एक विद्यार्थी मेरी आँखों पर चश्मे चढ़ा चढ़ा कर चश्मे और आँखों

की परीक्षा करने लगे। बीच बीच में वे दोस्तों से बातें करते जाते थे, सिगरेट पीते जाते थे और जिस हाथ में सिगरेट थी उसी हाथ से चश्मे के शीशे को घुमाते जाते थे। एक बार उनके जलते सिगरेट से मेरा माथा जल गया। मैंने घबराकर सिर मलना शुरू किए। बोले—मुझे अफ़सोस है (I am sorry)। चश्मे से मुझे संतोष न होता था —इसलिए मैंने जब जब उन्होंने पूछा तब तब कह दिया कि मुझे इससे साफ़ दिखाई न दे रहा है। चिढ़कर बोले—अब और कितना साफ़ दिखाई दे ! मैं चुप रहा। उन्होंने मेरे टिकट पर नंबर लिख दिया और किसी बड़े मेडिकल आफिसर से दस्तख़त करा दिए। अब किसी की क्या मजाल है कि उस चश्मे में कोई कुछ दोष निकाल सके !

मैंने इलाहाबाद लौट कर चश्मे का वह नम्बर एक चश्मे के दूकानदार को दिया। उसने कहा इसमें तो क्या का क्या नम्बर लिखा है। अपनी अक्ल से उसने उसे "दुरुस्त" कर दिया।

बारह रुपया ख़र्च करने पर फिर चश्मा मिल गया; लेकिन ऐसा जिसे यदि मैं आँख पर न रखता तो पछताता और यदि रखता तो भी।

(६)

साल छः महीने तक इसी तरह चलता रहा। चश्मा था लेकिन न होने के बराबर। कभी तबीयत आई लगा लिया। कभी तबीयत आई छोड़ दिया। सन् १६३८ की गर्मियों में मैं राहुल जी के साथ लाहुल गया। वह तो जल्दी लौट आए। मैं वहीं रह गया। वापसी पर अकेला था। लाहुल से कुल्लु और कुल्लु से शिमला पैदल ही चला। एक दिन एक पहाड़ की कड़ी चढ़ाई और उतराई थी। मैं शाम को ही जाकर उस पहाड़ की तलहटी में बसे एक गाँव में सो गया। प्रातःकाल चार बजे उठकर चढ़ाई शुरू की। ग्यारह बजते तक कुल दस मील की चढ़ाई चढ़ सका। बदन पसीना पसीना हो गया; टाँगें चूर चूर। पहाड़ की चोटी पर पहुँचा, तो एक चश्मे के पास बैठकर कुछ विश्राम करने और पढ़ने की सोची। मेरे छोटे से पुस्तकालय में—जिसे मैं अपने बिस्तर के साथ कंधे पर ढोता था—अश्वघोष का

प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ "बुद्ध चरित" था। मैंने उसे निकाला और पढ़ने के लिए चश्मा ढूँढ़ा। यह क्या, चश्मा नदारद। कहाँ गया? सोचने पर ख्याल आया कि पहाड़ की तलहटी में जहाँ मैं पिछली रात सोया था, वहीं रह गया। दस मील वापिस जाकर उसे खोजा जा सकता था; लेकिन एक बार तो वह दस मील की चढ़ाई जैसे-तैसे करके चढ़ा था, दुबारा चढ़ना पड़ने की कल्पना से भी डर लगता था। और वापिस जाने पर मिल ही जायगा, इसका कौन विश्वास? मैंने वापिस न जाने का निश्चय किया। रास्ते में एक दो आदमी मिले; उन्हें चिट्ठियाँ दे दीं कि किसी को मिल जाए तो पहुँचा दें। मेरा चश्मा नहीं मिला। हमेशा के लिए खो गया।

मेरे चश्मे तुझे सदा के लिए विदा!

(७)

आँख में तकलीफ इधर भी कभी कभी हुई। दो चार दिन पढ़ना लिखना कम करने पर बन्द हो गई। एक दिन मैं "जीवन-सखा" कार्यालय से डा० आर० एस० अग्रवाल लिखित माइण्ड ऐण्ड विज़न (Mind and Vision)* उठा ले गया। पढ़ा तो कई नई बातें मालूम हुईं। सबसे बड़ी यह कि मेरे चश्मे का खो जाना मेरा सौभाग्य रहा है। डा० अग्रवाल ने अपनी पुस्तक में यह सिद्ध किया है कि चश्मा आँख की दवा नहीं है; वह एक ऐसा यन्त्र है जिसकी सहायता से मनुष्य अधिक अच्छा देख सकता है; लेकिन यदि इस यन्त्र का उपयोग करता रहे तो उसकी आंखें उत्तरोत्तर खराब ही होती जायँगी।

उन्होंने आँख के रोगियों के लिए, क्षीण दृष्टि वालों के लिए अपनी किताब में कई उपयोगी सूचनाएँ दी हैं। आँखों को हथेलियों से ढकने की एक ऐसी विधि बताई है, जिससे आँखों को विश्राम मिलता है; और उचित विधि से अधिक समय तक करने से अन्धेपन तक को दूर किया जा सकता है। मैंने पढ़ने लिखने में इस पुस्तक की आज्ञाओं का पालन करना शुरू किया। काफी लाभ हुआ।

*यह उपयोगी पुस्तक 'अग्रवाल-आई० इन्सटीट्यूट' १५ दरियागंज' दिल्ली से मँगाई जा सकती है।

(८)

हमारे सारनाथ के भाई धर्मज्योति जी को Chronic catarrh (पुराना जुकाम) है। लगभग १२ वर्ष से सिंहल द्वीप के अनेक डाक्टरों-वैद्यों की चिकित्सा करते रहे हैं। किसी चिकित्सा से कुछ कहने सुनने लायक लाभ नहीं हुआ। एक दिन 'जीवन-सखा' के सम्पादक डा० बालेश्वर प्रसाद जी सारनाथ आए थे। मैंने पूछा धर्मज्योति जी का जुकाम भी किसी तरह अच्छा हो सकता है? बोले—नेति करें। मैंने कहा कैसे? बोले—इलाहाबाद चले आवें। मैं सिखा दूंगा।

फिर एक दिन 'जीवन-सखा' कार्य्यालय में मैंने अपनी दाहिनी आँख के बारे में कहा कि समय समय पर थोड़ा सा भी अधिक पढ़ने लिखने से मुझे ऐसा लगता है कि मानो उसमें धूल पड़ी है और कष्ट होता है। डाक्टर साहब ने कहा—नेति करें।

आप जानना चाहेंगे कि 'नेति' क्या बला है? आपने किसी भी बैल के नाक में रस्सी पड़ी देखी होगी—उससे आप नेति की कल्पना कर सकते हैं। मामूली धागों की बटी हुई रस्सी को एक खास तौर से ऐंठन देकर गर्म मोम में भिगो सुखा कर कड़ा कर लिया जाता है। उस रस्सी को पानी में धोकर नाक में डाला जाता है। वह हलक के पास मुँह में जा निकलती है। वहाँ उँगली डाल कर उसे मुँह के रास्ते आर पार कर दिया जाता है। यही 'नेति' करना हुआ। डाक्टर साहब ने दो दिन पास बैठ कर अपने करके दिखा दी और मैं भी दूसरे ही दि एक नथने से करने में सफल हो गया। मैंने कुछ उसे अपने लिये और कुछ भाई धर्मज्योति जी के लाभ के लिए सीखा था। सारनाथ जाकर मैंने उन्हें भी सिखाई।

तीन महीने से भाई धर्मज्योति और मैं प्रायः रोज 'नेति' करते हैं। वे एक दो दिन बीच बीच में छोड़ भी देते हैं, मैं नियम से रोज करता हूँ। यह कहते प्रसन्नता होती है कि धर्मज्योति जी के जिस जुकाम पर वर्षों की गई अनेक चिकित्साओं का कुछ स्थायी और अच्छा फल न हुआ था वह तीन चार दिन की 'नेति' से ही काबू में आ गया।

उनको नेतिसे बड़ा लाभ हुआ है; और अब उनको शायद एक रुपये में तीन आना शिकायत बाकी है।

और मैं अपनी क्या कहूँ ? पिछले तीन महीनों में न मुझे जुकाम हुआ, न आँख की तकलीफ। लिखना-पढ़ना मेरा बराबर आठ-दस घंटे रोज की औसत से जारी है।

इधर मेरा यह मत है कि जिस प्रकार हम दाँतों की सफाई के लिए रोज दातुन करते हैं, उसी प्रकार यदि हम नासिका मार्ग को साफ रखने के लिए रोज या हर दूसरे तीसरे दिन नेति कर लिया करें, तो आदमी को न तो कोई आँख का रोग हो, न कान का, न नाक का।

बनी बनाई नेति डा० बालेश्वर प्रसाद जी से प्राप्य है और उसकी विधि भी वह सिखा दे सकते हैं।



संस्कृति

जो शब्द सब से कम समझ में आते हैं और जिनका उपयोग होता है सब से अधिक; ऐसे दो शब्द हैं सभ्यता और संस्कृति।

इन दो शब्दों के साथ जब अनेक विशेषण लग जाते हैं, उदाहरण के लिये जैसे भौतिक-सभ्यता और आध्यात्मिक-सभ्यता, तब दोनों शब्दों का जो थोड़ा बहुत अर्थ समझ में आया रहता है, वह भी गल्त-सल्त हो जाता है। क्या ये एक ही चीज़ हैं अथवा दो वस्तुएँ? यदि दो हैं तो दोनों में क्या अन्तर है! हम इसे अपने तरीके पर समझने को कोशिश करें।

कल्पना कीजिये उस समय की जब मानव समाज का अग्नि देवता से साक्षात नहीं हुआ था। आज तो घर घर चूल्हा जलता है। जिस आदमी ने पहले पहल आग का आविष्कार किया होगा, वह कितना बड़ा आविष्कर्ता रहा होगा!

अथवा कल्पना कीजिये उस समय की जब मानव को सुई धागे का परिचय न था, जिस मनुष्य के दिमाग़ में पहले पहल यह बात आई होगी कि लोहे के एक टुकड़े को घिस कर उसके एक सिरे को छेद कर और छेद में धागा पिरो कर कपड़े के दो टुकड़े एक साथ जोड़े जा सकते हैं, वह भी कितना बड़ा आविष्कर्ता रहा होगा!

इन्हीं दो उदाहरणों पर विचार कीजिये; पहले उदाहरण में एक चीज़ है किसी व्यक्ति विशेष की आग का आविष्कार कर सकने की शक्ति और दूसरी चीज़ है आग का आविष्कार। इसी प्रकार दूसरे सुई धागे के उदाहरण में एक चीज़ है सुई धागे का आविष्कार कर सकने की शक्ति और दूसरी चीज़ है सुई धागे का आविष्कार।

जिस योग्यता, प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा के बल पर आग का वा सुई धागे का आविष्कार हुआ, वह है व्यक्ति विशेष की संस्कृति, और उस संस्कृति द्वारा जो आविष्कार हुआ, जो चीज़ उसने अपने तथा दूसरों के लिये आविष्कृत की, उसका नाम है सभ्यता।

जिस व्यक्ति में पहली चीज़, जितनी अधिक वा जैसी परिष्कृत मात्रा में होगी, वह व्यक्ति उतना ही अधिक वा वैसा ही परिष्कृत आविष्कर्ता होगा।

एक संस्कृत व्यक्ति किसी नई चीज़ की खोज करता है; किन्तु उसकी सन्तान को वह अपने पूर्वज से अनायास ही प्राप्त हो जाती है। जिस व्यक्ति की बुद्धि ने अथवा उसके विवेक ने किसी भी नये तथ्य का दर्शन किया, वह व्यक्ति ही वास्तविक संस्कृत व्यक्ति है और उसकी सन्तान जिसे अपने पूर्वज से वह वस्तु अनायास ही प्राप्त हो गई है, वह अपने पूर्वज की भाँति सभ्य भले ही बन जाये, संस्कृत नहीं कहला सकता। एक आधुनिक उदाहरण लें। न्युटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का आविष्कार किया। वह एक संस्कृत मानव था। आज के युग का भौतिक विज्ञान का विद्यार्थी न्युटन के गुरुत्वाकर्षण से तो परिचित है ही; लेकिन उसके साथ उसे और भी अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त है, जिनसे शायद न्यूटन अपरिचित ही रहा। ऐसा होने पर भी हम आज के भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी को न्यूटन की अपेक्षा अधिक सभ्य भले ही कह सकें; पर न्युटन जितना संस्कृत नहीं कह सकते।

आग के आविष्कार में कदाचित पेट की ज्वाला की प्रेरणा एक कारण रही। सुई धागे के आविष्कार में शायद शीतोष्ण से बचने तथा शरीर को सजाने की प्रवृत्ति का विशेष हाथ रहा। अब कल्पना कीजिये उस आदमी की जिसका पेट भरा है, जिसका तन ढँका है, लेकिन जब वह खुले आकाश के नीचे सोया हुआ रात के जगमगाते तारों को देखता है, तो उसको केवल इस लिये नींद नहीं आती क्योंकि वह यह जानने के लिये परेशान है कि आख़िर यह मोती भरा थाल क्या है! पेट भरने और तन ढंकने की इच्छा ही मनुष्य की संस्कृति की जननी नहीं है। पेट भरा और तन ढका होने पर भी ऐसा मानव जो वास्तव में संस्कृत है, निठल्ला नहीं बैठ सकता। हमारी सभ्यता का एक बड़ा अंश हमें ऐसे संस्कृत आदमियों से ही मिला है, जिनकी चेतना पर स्थूल भौतिक कारणों का प्रभाव प्रधान रहा है, किन्तु उसका कुछ

हिस्सा हमें ऐसे मनीषियों से भी मिला है जिन्होंने तथ्य-विशेष को किसी भौतिक प्रेरणा के वशीभूत होकर नहीं, बल्कि उनके अपने अन्दर की महज संस्कृति के ही कारण प्राप्त किया है। रात के तारों को देख कर न सो सकने वाला मनीषी हमारे आज के ज्ञान का ऐसा ही प्रथम पुरष्कर्ता था।

भौतिक प्रेरणा, ज्ञानेप्सा—क्या ये दो ही मानव संस्कृति के माता पिता हैं? दूसरे के मुंह में कौर डालने के लिये जो अपने मुंह का कौर छोड़ देता है, उसको यह बात क्यों और कैसे सूझती है? रोगी बच्चे को सारी रात गोद में लिये जो माता बैठी रहती है, वह आख़िर ऐसा क्यों करती है? सुनते हैं कि रूस का भाग्य विधाता लेनिन अपने डैस्क में रखे हुए डबल रोटी के सूखे टुकड़े स्वयं न खाकर दूसरों को खिला दिया करता था। वह आख़िर ऐसा क्यों करता था? संसार के मज़दूरों को सुखी देखने के स्वप्न देखते हुए कार्लमार्क्स ने अपना सारा जीवन दुःख में बिता दिया। और इन सब से बढ़ कर आज नहीं, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व एक सिद्धार्थ ने अपना घर केवल इस लिए त्याग दिया कि किसी तरह तृष्णा के वशीभूत लड़ती-कटती मानवता सुख से रह सके।

हमारी समझ में मानव की जो योग्यता आग व सुई धागे का आविष्कार कराती है, वह भी संस्कृति है; जो योग्यता तारों की जानकारी कराती है, वह भी संस्कृति है; और जो योग्यता किसी महामानव से सर्वस्व त्याग कराती है, वह भी संस्कृति है।

और सभ्यता? सभ्यता है संस्कृति का परिणाम। हमारे खाने पीने के तरीके, हमारे ओढ़ने पहनने के तरीके, हमारे गमना-गमन के साधन, हमारे परस्पर कट मरने के तरीके, सब हमारी सभ्यता है। मानव की जो योग्यता उससे आत्म-विनाश के साधनों का आविष्कार कराती है, हम उसे उसकी संस्कृति कहें या असंस्कृति? और जिन साधनों के बल पर वह दिन-रात आत्म-विनाश में जुटा हुआ है, उन्हें हम उसकी सभ्यता समझें वा असभ्यता? संस्कृति का यदि कल्यान

की भावना से नाता टूट जायगा तो वह असंस्कृति होकर ही रहेगी और ऐसी संस्कृति का अवश्यम्भावी परिणाम असभ्यता के अतिरिक्त दूसरा क्या होगा ?

हम अनेक बार संस्कृति और सभ्यता के खतरे में होने की बात सुनते हैं। हिटलर के आक्रमण के कारण मानव संस्कृति तो ख़तरे में पड़ी कही ही जाती है, लेकिन उससे ज्यादा जोर से हम अपने देश में "हिन्दु-संस्कृति" अथवा "मुस्लिम-संस्कृति" के लिये खतरे की बात सुनते हैं। ताज़िये को निकालने के लिये पीपल का तना कट गया, तो "हिन्दु-संस्कृति" खतरे में पड़ जाती है और मस्जिद के सामने बाजा-बज गया, तो "मुस्लिम-संस्कृति" कहीं की नहीं रहती ! हम न तो "हिन्दु-संस्कृति" को ही समझते हैं न "मुस्लिम-संस्कृति" को। "हिन्दुओं की संस्कृति" या "मुसलमानों की संस्कृति" कुछ समझ में भी आती है, लेकिन यह "हिन्दु-संस्कृति" और "मुस्लिम-संस्कृति" क्या बला है! लेकिन जिस देश में पानी और रोटी का भी हिन्दू मुस्लिम बटवारा मौजूद हो, उसमें संस्कृति के बटवारे पर क्या आश्चर्य्य !

"हिन्दु-संस्कृति" में भी फिर "प्राचीन-संस्कृति" और "नवीन-संस्कृति" का बटवारा मौजूद है। वर्ण-व्यवस्था के नाम पर समाज के बड़े कर्मठ हिस्से को पददलित रखना ही कुछ लोगों की दृष्टि में प्राचीन हिन्दु-संस्कृति है। वे उसी के रक्षा की स्वराज को स्थापना मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति की छीछालेदर की हद नहीं। संस्कृति के नाम से जिस कूड़े करकट के ढेर का बोध होता है, वह न संस्कृति है न रक्षणीय वस्तु। क्षण क्षण परिवर्तन होने वाले संसार में किसी भी चीज़ को पकड़ कर बैठा नहीं जा सकता। मानव ने जब जब प्रज्ञा और मैत्री भाव से किसी नए तथ्य का दर्शन किया है तो उसने कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी है, जिसकी रक्षा के लिए दलबंदियों की जरूरत है।

मानव संस्कृति एक अविभाज्य वस्तु है और उसमें जितना अंश कल्याण का है, वह अकल्याणकर की अपेक्षा श्रेष्ठ ही नहीं स्थायी भी है।



गुरुवर की याद में—

तार आया है—

"प्रिंसपल विद्यालंकार परिवेण पास्ड अवे"

आप नहीं ही समझ पाएँगे कि इस छोटे से तार का मेरे लिये क्या अर्थ है ? इसका अर्थ है कि जिस स्नेह-मूर्ति के चरणों में प्रणाम कर आने की इच्छा को मैं पिछले चार-पाँच वर्ष से मन में स्थान दिए था, अब वह कभी भी पूरी न होगी। अब तो उनकी स्मृति को ही बार-बार प्रणाम है।

अनिच्चा वत संखारा उप्पादवयधम्मिनो,
उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति तेसं वूपसमो सुखो ॥

[सभी संस्कार अनित्य हैं। उत्पत्ति और लय उनका धर्म है। वे उत्पन्न होते हैं और निरोध को प्राप्त होते हैं। उनका शमन ही सुख है।]

× × ×

पिछली शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में लङ्का की क्या दशा थी, कुछ न पूछो। आज बौद्ध धर्म की दृष्टि से प्रथम पंक्ति में खड़ा हो सकने वाला देश कुल पचास वर्ष पहले एकदम पिछली पंक्ति में खड़ा था। 'उस समय कोलम्बो ईसाइयों का गढ़ था। बौद्ध होने पर भी अपने आपको बौद्ध कहना निन्दा का ही नहीं भय का भी कारण था। शादी कराने के लिए बौद्धों को भी ईसाई गिर्जाघरों में जाना पड़ता था। अदालत और गिर्जा-घर में बौद्ध अपने आप को ईसाई लिखा देते थे। 'बौद्ध शिक्षणालय' शब्द सिंहल के कोष तक में न था। यदि कोई चाहता कि

उसका बच्चा पढ़े तो उसे ईसाई स्कूल में भेजने के सिवा और चारा न था। जो ईसाई-स्कूल में पढ़ने जाते उनमें से अधिकाँश ईसाई बन कर ही घर लौटते। ऐसे समय में १३ सितम्बर १८६६ में उत्पन्न एक बालक को ईसाई स्कूल में ही पढ़ने के लिये भेजा गया। सिंहल देश का भाग्य ही समझो कि अन्य हज़ारों बालकों की तरह यह बालक ईसाई मत के जाल में नहीं फँसा।

× × ×

पिछली शताब्दी में ही सिंहल में एक बड़े महापुरुष हो गये हैं, जिनका नाम था मोहोट्टिवत्ते श्री० गुणानन्द महास्थविर। आप उन्हें लङ्का के स्वामी दयानन्द ही समझिये। एक दिन आपका उपदेश हो रहा था। बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्र के बारे में आपने कहा—

यो पब्बजि जातिसतानिपञ्च
पहाय कामानि मनोरमानि,
तं वीतरागं सुसमाहितिन्द्रियं
परिनिब्बुतं वन्दथ सारिपुत्तं॥

[जो पाँच सौ जन्मों तक मनोरम काम-भोगों को छोड़कर प्रव्रजित हुआ, उस संयमी वीतराग सारि-पुत्र को, जिनका अब परिनिर्वाण हो गया है, नमस्कार करो।]

बालक ने सोचा, यदि सारिपुत्र पाँच सौ जन्मों तक प्रव्रजित हुये तो क्या मैं एक जन्म भी प्रव्रज्या के निमित्त न दे सकूँगा ? जैसे भी होगा माता-पिता की आज्ञा से वा बिना उनकी जानकारी के ही प्रव्रज्या अवश्य लूँगा। लंका में बिना माता-पिता की आज्ञा के कोई प्रव्रजित नहीं हो सकता। आगे चलकर मावड गुण रतन स्थविर ने माता-पिता की स्वीकृति से उस तरुण को प्रव्रजित किया। उस शाक्य-पुत्र का नाम हुआ लुणुपोकुणे रतनपाल।

× × ×

लुणुपोकुणे रतनपाल की शिक्षा उसी विद्यालङ्कार परिवेण में हुई

जिसके वह भावी प्रिंसिपल थे। सिंहल के प्राच्य-विद्यालयों में दो ही मुख्य हैं—विद्योदय परिवेण और विद्यालङ्कार परिवेण। विद्योदय कोलम्बो में है, विद्यालङ्कार केलानिया (कल्याणी) में। दोनों के प्रधानाचार्य्य अपने अपने समय के महान् पण्डित रहे हैं। विद्योदय में सुमङ्गला-चार्य्य रहे हैं तो विद्या-लंकार में धर्मकीर्ति धर्माराम। कुमार-दास के जानकी-हरण महाकाव्य की कथा प्रसिद्ध है। मूलग्रन्थ अप्राप्य था। उसकी एक टीका सिंहल भाषा में विद्यमान थी। धर्म-कीर्ति श्री० धर्माराम ने उस टीका की सहायता से मूल जानकी-हरण महाकाव्य का उद्धार कर डाला। बाद में दक्षिण से 'जानकी-हरण' काव्य की एक प्रति मिल गई। प्राप्त प्रति और वह 'जानकी-हरण' जिसका उद्धार धर्माराम जी ने किया था अविश्वसनीय रूप से समान निकले। लुणुपोकुणे रतन-पाल की शिक्षा इन्हीं धर्मकीर्ति श्री० धर्माराम जी के अधीन हुई। १८६२ में आपकी उपसम्पदा हुई। धर्मकीर्त्ति श्री० धर्माराम जी के गुरु रतमलाने धर्मा-लोक जी ने आपकी पुनः प्रव्रज्या की थी और उस समय आपका जो नाम था उसे बदल कर लुणुपोकुणे धम्मानन्द कर दिया था। उप-सम्पदा के समय वही नाम स्थिर रहा। १६१८ में धर्मकीर्ति श्री० धर्माराम जी का देहावसान हुआ। उसी वर्ष आप विद्यालंकार परिवेण के प्रिंसिपल बने।

× × ×

इस के दस वर्ष बाद, पूरे दस वर्ष बाद इन पंक्तियों के लेखक को आपके चरणों में बैठने का अवसर मिला। काश! अधिक समय मिलता और मैं कुछ अधिक पा सकता। एक बार एक यूरोपियन मित्र ने कहा—"अपने गुरु से पूछो, गुरु किसे कहते हैं?" मैंने उसका प्रश्न दोहरा दिया। तुरन्त सिंहल में उत्तर मिला—"जिसका ज्ञान ऐसा हो कि उससे कोई बात छिपी न हो, और जिसकी सहानुभूति ऐसी हो कि उससे कोई व्यक्ति बचा न हो।" आज उनकी बातें रह

रह कर याद आ रही हैं। चित्र देखता हूँ तो लगता है कि अभी बोल पड़ेंगे। उनकी किस किस बात को याद करूँ और किस को न करूँ!

सन् २९ या ३० में मुझे किसी ने भारत से लिखा कि वह बौद्ध वाङ्मय के अध्ययनार्थ सिंहल आना चाहता है, और पूछा कि क्या व्यवस्था हो सकती है? मैंने उत्तर दिया, यदि भिक्षु बनकर माँगना खाना हो तो किसी भी विहार में रह कर पढ़ा जा सकता है, अन्यथा रहने की व्यवस्था शायद हमारे परिवेण में भी हो सके। शेष खाने पीने आदि का खर्च स्वयं करना होगा। शाम को जब मैंने अपने गुरुदेव के सामने उस पत्र और उसके उत्तर की चर्चा की तो बोले— "ऐसा क्यों लिख दिया? यह ख़ून किसका है? यह हड्डियाँ किसकी हैं? यह मांस किसका है? सभी कुछ भारत का ही तो है। दम्बदिव (= जम्बुद्वीप) से आने वालों को यहाँ खुली छुट्टी है। आयें रहें। खाने की व्यवस्था कर सकें, कर लें। नहीं तो वह भी यहाँ से हो जायगी।" लगभग चार वर्ष मैं उनके चरणों में रहा। भारत के प्रति उनकी इस भावना को एक दिन भी तो अन्यथा न देखा। उनके बारे में कुछ भी लिखते मेरी तो आज लेखनी रुक रुक जाती है।

× × ×

एक मेरे क्या, जिस किसी भारतीय को भी पिछले वर्षों में सिंहल जाकर शाक्य-भिक्षु बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे सभी के गुरु थे। क्या महानाम, क्या सुमन वात्स्यायन, क्या नागार्जुन, क्या जगदीश काश्यप, क्या राहुल सांकृत्यायन--सभी के। मुझे ही सब से पहले उन्हें उपाध्याय बनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सन् ३१ में जब राहुल जी तिब्बत में थे और उन्हें पता लगा कि तिब्बत और नैपाल की छिड़ने जा रही है तो गुरुदेव ने मुझ से पत्र लिखलाया—लिखो कि "सिपाही नहीं समझते, कौन पण्डित है, कौन मूर्ख। वे सभी का सिर समान भाव से फोड़ने वाले होते हैं। जैसे बने शीघ्र लौट आयें।" और जब राहुल जी का पत्र आया कि वह बिना अपने साथ सारा तिब्बती वाङ्मय लाये नहीं लौट सकते और उसे लाने के लिये तीन

हजार रूपयों की अपेक्षा है तो मुझे याद है कि गुरुदेव ने सोने से पहले उस पत्र की अंग्रेज़ी कर देने की आज्ञा दी थी। सम्भवतः वह उसे अपने किसी श्रद्धालु को दिखाना चाहते थे। पत्र लम्बा था। अंग्रेज़ी करने में देर हो गई। रात को सोने से पहले मैं उन्हें पत्र देने गया। वे आराम करने जा चुके थे। प्रातःकाल अन्धेरे मुँह पहुँचा। वे परिवेण से विदा हो चुके थे। लगभग ९, १० बजे लौट कर कहा—"आनन्द! वन थाउज़ैण्ड आर-राइट", अर्थात् एक हज़ार रुपये की व्यवस्था हो गई है। मध्यान्ह का भोजन करते ही फिर न जाने कैसे उतनी जल्दी निकल गये। लौट कर बोले—"आनन्द! थिरी थाउज़ैंड आर-राइट।" उन्होंने अंग्रेज़ी नहीं पढ़ी थी और अनावश्यक अंग्रेज़ी बोलने वालों से बड़ी चिढ़ थी। इसलिये कभी कभी दो चार परिचित अंग्रेजी शब्दों का बिगड़ा उच्चारण करके वह अपनी अँग्रेजी अवहेलना का परिचय दिया करते थे। उसी दिन उनकी आज्ञा से तीन हज़ार रुपया कलकत्ता भेज दिया गया, जहाँ से वह तुरन्त तार द्वारा ल्हासा पहुँचा। आज पटना म्यूजियम को राहुल जी का दान किया हुआ तिब्बती वाङ्मय गुरुवर धम्मानन्द जी का स्मृति-चिह्न ही तो है।

उनके इस प्रकार के कार्य्यों को न समझ सकने वाले लङ्का के बड़े बड़े लोग भी कभी कभी कहते—आप ऐसी बातों के लिए क्यों इतना कष्ट उठाते हैं! अपना काम करना चाहिए। गुरु-देव का उत्तर होता—"ऐसी बात मत कहो। क्या इस कार्य्य की अपेक्षा श्रेष्ठतर कोई कार्य्य है! यह सब कोई मज़ाक नहीं है।"*

× × ×

लोग कहते हैं निजी बातें न लिखी जायें। निजी न लिखी जायें तो क्या लिखा जाय? सन् ३२ में राहुल जी ने ऐसी व्यवस्था की कि मुझे और उन्हें एक साथ इंगलैण्ड जाना हुआ। राहुल जी शीघ्र लौट आने वाले थे। मुझे वहाँ रहना था। मैंने अपने एक और परिचित

*ए कथाव कियन्ट एपा। अप विसिन् कलयुतु ईटत् वडा लोकु वैडक् तिवेद! ओवा निकम् विहलु कथाव नो वे।

को अपने साथ सैक्रेट्री के तौर पर ले जाना चाहा। पहले वह ईसाई थे, लेकिन इधर बौद्ध हो गये थे। अंग्रेज़ी स्वयं भी अच्छी लिखते थे और टाइप आदि करके दे सकते थे। मुझे सब तरह से योग्य जँचे। एक ही दोष था—योग-साधना की धुन सवार थी। वह इङ्गलैण्ड न जाकर किसी जंगल में योग साधन करना चाहते थे। मैं उन्हें रात के एक बजे तक समझाता रहा। मेरा तर्क था—"यदि तुम्हारी योग-साधना की इच्छा सच्ची और पक्की है तो वह साल छः महीने के बाद पूरी हो सकती है और यदि वह ऐसी है कि उसके साल छः महीने बाद लुप्त हो जाने का डर है तो वह इस योग्य ही नहीं कि उसे मन में स्थान दिया जाय।" जब मैं उन्हें समझाते-समझाते थक गया और नहीं ही समझा सका तो पास के कमरे में लेटे हुये गुरुदेव ने, जिन्हें शायद मेरे लैकचर ही ने तब तक सोने नहीं दिय था, बुलाया और कहा—"आनन्द! द्वे मे भिक्खवे बाला, यो आगतं भारं न वहति, यो अनागतं भारं वहति" अर्थात् आनन्द! भगवान् ने भिक्षुओं को कहा है कि दो आदमी मूर्ख होते हैं, एक वह जो अपने कर्तव्य को नहीं करता और दूसरा वह जो उसका कर्तव्य नहीं है, उसे करने जाता है। मैं समझ गया। तब तक मुझे ही इंगलैण्ड जाने का निमन्त्रण मिला था और एक सैक्रैट्री भी खोज लेने के लिये मुझे किसी ने नहीं कहा था। वह मेरे लिये 'अनागतभार' था, जिसे वहन करने से गुरुदेव ने मेरी रक्षा की।

मेरे मन में भक्ति थी, लेकिन डर छू नहीं गया था। इसी से कभी कभी ऐसे प्रश्न भी कर देता जो प्रश्न और आलोचना एक साथ होते। वे सायं-प्रातः नियमित रूप से बुद्ध-मन्दिर में प्रणाम करने जाते और मैंने हर प्रणाम के बाद उनके मुँह पर एक लाली देखी है, एक तेज देखा है। जब यात्रा में रहते तो अपने सूट-केस में एक छोटा स्तूप रखते। जहाँ एक दो रात ठहरते, वह स्तूप मेज पर रूमाल बिछा कर उस पर विराजमान कर दिया जाता। एक दिन चलते समय उन्होंने कुछ फूल लिये और नौकर के सिर पर रखे उस सूट-केस पर

रख दिये। समझ गया, फूलों से स्तूप-पूजा की गई है। मेरी नास्तिकता न मानी। बोल ही तो दिया—"नायकपाद! क्या यह फूल थोड़ी देर में गिर न जायेंगे?" उनका उत्तर था—"हमें इससे क्या, हमने तो पूजा कर दी है।" बात समझ में आई। पूजा की भावना को मन मे स्थान देने से चित्त का जो क्षणिक स्वास्थ्य उन्हें प्राप्त हो चुका है, अब कौन है जो उसे उनसे छीन सके! मैंने मन ही मन उन की पूजा की भावना को नमस्कार किया।

× × ×

छोटी छोटी बातें ही आदमी के चरित्र को व्यक्त करती हैं। बड़ी बड़ी बातें तो कभी कभी विशेष प्रयत्न के फल-स्वरूप हो ही जाती हैं। एक सन्यासी को भगन्दर रोग की शिकायत हो गई। किसी ने सूचना दी कि लंका की एक लेडी डाक्टर भगन्दर का आपरेशन करने में विशेष पटु है। लेकिन साथ ही काना-फूंसी शुरू हो गई—एक देवी एक सन्यासी के भगन्दर रोग का आपरेशन करेगी। नायकपाद ने आस-पास के लोगों को डाँटते हुये कहा—"यह बुद्धधर्म न हुआ, मूर्खों का धर्म हो गया। स्त्री के आपरेशन करने में क्या है?......" कोई कुछ न बोल सका।

अपनी ही एक और बात कहूँ। धार्मिक रूढ़ी से बंधा हुआ साधु सन्यासी ही इसे टीक टीक समझेगा। इंगलैंड की सर्दी में भी इन पंक्तियों का लेखक अपने सिर को सफाचट मुन्डा रखता था। रात को सोते समय लाल ऊन की बनी हुई एक छोटीसी टोपी सिर पर रख लेता कि सिर ढकने के लिये मुँह न ढकना पड़े। जिस दिन लंदन से विदा हुआ, उस दिन वर्षा हो रही थी और सर्दी बहुत थी। मैंने कुछ सोच कर दिन में भी वह बन्दर-टोपी सिर पर रहने दी। स्टेशन पर गाड़ी में बैठने लगा तो इस युग के नारद मुनि दो एक पत्रकार-फोटोग्राफर वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने मुझ पर गोली दागनी चाही। कोई भी कितना मूर्ख भिक्षु क्यों न हो, सिर पर बन्दर-टोपी लिये अपनी फोटो नहीं ही खिचने देगा। मुझे भी टोपी उतार लेने की सूझी। लेकिन मैंने

नहीं उतारी। जो कुछ हम से हो जाता है, वह सब हम भले ही प्रकट न करें, लेकिन जो प्रकट रूप से करते हैं उसे भी निन्दा-प्रशंसा के भय से छिपाने लग जायें तब तो चरित्र के खड़े रहने के लिये कहीं कोई आधार रह ही नहीं जाता। मैंने वह बन्दर-टोपी सिर पर रहने ही दी। वही हुआ जिसकी आशंका थी। मेरी वह तस्वीर इंगलैंड के पत्रों मे छपी और सिंहल का प्रेस उसे छापने के लिये मेरे सिंहल उतरने के दिन की प्रतीक्षा करता रहा। जिस दिन कोलम्बो उतरा उस दिन मैं सिंहल के दो प्रमुख पत्रों—'डेली-न्यूज' और 'दिन-मिन्'—के पहले पृष्ठ पर ऐसे बैठा था जैसे हनुमान जी की सेना में से कोई बन्दर भाग आया हो। दूसरे दिन सिंहल के उन पत्र-द्वय के सम्पादकों के पास मेरी आलोचना में कई चिट्ठियाँ पहुँच गई। सब दोषारोपण-मात्र। दो वर्ष तक इंगलैंड में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के बाद बौद्ध धर्म के घर—सिंहल—लौटा था। कुछ स्वागत की आशा अनुचित न थी। स्वागत हुआ, इस रूप में। सम्पादकों की समझदारी के कारण उन्हें मिले पत्रों में से केवल एक पत्र प्रकाश में आया। मैं उसे पढ़कर स्वभावतः प्रसन्न न था। गुरुदेव ने पूछा—"क्यों, उस चिट्ठी से मन कुछ मैला हो गया है? क्या उसका जवाब देने की सोच रहे हो?" मैं उत्तर सोच रहा था। बोले—"न, जवाब देने की कुछ ज़रूरत नहीं है।" दूसरे दिन एक परिचित मित्र की ओर से उस प्रकाशित पत्र का समाधान छपा देखा। शाम को जब एक महास्थिर ने मेरी ओर इशारा कर के उनसे कहा—"आपके शिष्य के बारे में......" तुरन्त बोले—"किसी की प्रशंसा ही प्रशंसा हो, यह उसके लिये बहुत बुरा है। बीच बीच में आलोचना होते रहना चित्त के स्वास्थ्य के लिये बहुत अच्छा है।"

उनके मन में गुरु-भक्ति अगाध थी और वह व्यक्ति के विकास में इसका बड़ा स्थान मानते थे। एक दिन मैं अपने 'प्रगतिशील' विचारों की बाढ़ में कुछ अत्यधिक प्रगतिशील हो गया। उनकी दृष्टि से एकदम ऊटपटांग बात मुँह से निकल गई। उस रात

सिंहल भाषा की सारी कठोर शब्दावलि मुझ पर समाप्त हुई। कठोर शब्दावलि ही नहीं, सिंहल भाषा की छोटी मोटी गालियाँ भी। मैं कुछ न बोला। बुत बना खड़ा रहा। दो चार दिन के बाद सुना। किसी से कह रहे थे—"आनन्द को इतनी गालियां दीं। कोई भी और होता, चुप न रहता। लेकिन आनन्द एक शब्द भी तो नहीं बोला।" मुझे तो यही लग रहा था—मां प्यो दियाँ गाळाँ, घ्यो दियाँ नाळाँ अर्थात् माता-पिता की गालियां घी की नलकियां होती हैं। अब कौन है जो शिक्षाबुद्धि से उस प्रकार की मधुर गालियां दे सकेगा। वाणी की कठोरता उसके बाह्य-रूप में नहीं होती बल्कि उसके अन्दर के विष में। गुरुदेव से तो अमृत ही अमृत पाया।

उनकी अपनी चर्य्या में रात के तीन तीन बजे तक पढ़ना लिखना शामिल रहता था। इसलिये वे यदि विशेष कार्य्य न हो तो आठ नौ से पहले सोकर न उठते थे। दोपहर को वह नहाने से पहले हाथ में एक नारियल की जटा लिये उस जगह जाते जहां परिवेण के सारे विद्यार्थी और अध्यापक लघु-शंका करते थे। अपने यहाँ तो लघुशंका के लिये पृथक-स्थान आवश्यक ही नहीं समझा जाता। जो हो, उनका कोई शिष्य वहां पानी गिराता रहता और वह स्वयं उसे रगड़-रगड़ कर धोते। उनका नहाना किसी एक जगह बैठ या खड़े होकर न होता। वह परिवेण के प्रत्येक वृक्ष के नीचे बारी बारी जाकर खड़े होते। उनके साथ स्नान करने वाले शिष्यगण पानी की गागरें लिये वहाँ पहुंचते। वे गागरें गुरुदेव के सिर और पेड़ों की जड़ों में एक साथ पड़तीं। इसी प्रकार रोज 'एक पंथ दो काज' होते।

वे अपने समय के पालि भाषा और व्याकरण के असामान्य पण्डित थे। उन्हें संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान था। अनेक ग्रन्थों का उन्होंने सम्पादन किया है और मोग्गल्लान पालि-व्याकरण परम्परा का तो एक प्रकार से उद्धार ही। जिस समय भी कोई दर्शनार्थी न आया होता या कोई विद्यार्थी पास न होता वह तुरन्त अपने अन्दर के कमरे में खुली हुई किताबों के बीच जा बैठते।

वे सिंहल के बड़े ही लोक-प्रिय उपदेशक थे। किस समय क्या बात करनी चाहिये, इस गुण में तो कोई उनका मुकाबला कर ही न सकता था। व्यवहार पटु भी बड़े ही। एक आदमी ने उनको एक मोटर देनी चाही। अस्वीकार कर दी। बोले—"अभी तो मैं किसी की भी मोटर मँगा लेता हूँ। फिर मुझ से ही लोग मोटर मांगा करेंगे। डराइवर की व्यवस्था करनी होगी, और पैट्रोल की भी। जिस किसी को भी न दे सकूँगा, वही असंतुष्ट होगा··· ··आदि"।

ऐसे ही अनेक गुणों के कारण वे बिना किसी सरकारी सहायता के इतना बड़ा प्राच्य-विद्यालय चलाते रहे। विद्यालंकार परिवेण की यह आचार्य्य-परम्परा है कि उसने सरकारी सहायता नहीं ली।

इन सब गुणों के रहते भी उनके जिस गुण पर मैं मुग्ध रहा, वह उनकी अगाध मैत्री थी। बाल, वृद्ध, निरक्षर साक्षर सब के लिए समान भाव।

एक आदमी को मैं वहाँ नित्य देखता—काला कलूटा, हाथ पाँव सूजे हुए, सारा शरीर दुबला पतला। चल फिर नहीं सकता था। लाठी टेक कर भी ऐसे चलता कि फरलांग भर चलने में ही घन्टा लग जाय। वह आता और भोजनालय में झाड़ू लगाने का प्रयत्न करता। समय असमय थोड़ा दाल-भात खा लेता।

"नायकपाद! यह कौन है?" मैंने पूछा।

"जिस समय यह सामर्थ्यवान था, इसने बहुत खाया कमाया और पुण्य किया। अब इसके बेटों ने इसे घर से निकाल दिया।"

मैंने कहा, "यहीं बैठे रहा करो और दाल-भात खा लिया करो। बिना कुछ काम किये परिवेण का दाल-भात खाना ही नहीं चाहता। इसीलिए मना करने पर भी झाड़ू नहीं छोड़ता।"

जिस बूढ़े को उसके पुत्रों ने घर से निकाल दिया था, उसे गुरुदेव ने परिवेण में जगह दी थी। वे प्रायः उसके बारे में पूछते—लोकु उन्नहे बत कैवाद्? (पितामह ने भात खा लिया।)

मैं जब कभी उन्हें उस पितामह के भोजन के लिये अत्यधिक

चिन्तित देखता तो मुझे भगवान बुद्ध के जीवन की वह घटना याद आ जाती जिसमें उन्होंने एक बूढ़े किसान को जो दिन भर बैलों की तलाश करते रहने के कारण बुरी तरह थक गया था उपदेश न देकर भोजन दिलवाया था। भगवान ने कहा था—‘भूख सबसे बड़ा रोग है। भूखे को उपदेश से पहले भोजन चाहिये।”

मैं अपने गुरुदेव को बारबार प्रणाम करता हूँ।



यह हिन्दुस्तानी है !

इधर पंडित सुन्दरलाल जी काफी समय से इलाहबाद से बाहर थे। दो एक दिन के लिये आप इलाहाबाद आये तो एक पूरा दिन, मालूम होता है पत्र सम्वाददाताओं ने ही ले लिया। इलाहाबाद के दोनों अंग्रेज़ी दैनिकों—'लीडर' और 'अमृत बाजार पत्रिका'—तथा हिन्दी दैनिक 'भारत' में ३१ मई और १ जून को पंडित सुन्दरलाल जी के तीन इन्टरव्यू प्रकाशित हुये हैं। तीनों एक दूसरे से विशिष्ट हैं। हम यहाँ तीनों के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

पहले 'पत्रिका' के इन्टरव्यू को ही लें। वह मुख्यतया राष्ट्र-लिपि के बारे में है। संवाददाता ने पंडित जी का ध्यान सरकार द्वारा कई स्थानों में रोमन-लिपि के व्यवहार की ओर आकर्षित किया। आप ने कहा—"जहाँ तक हिन्दुस्तानी के रोमन-लिपि में लिखे और सिखाये जाने का प्रश्न है व्यक्ति-गत तौर पर मुझे इससे कुछ भय नहीं......मैं इस बात को संभव मानता हूँ कि किसी दिन रोमन-लिपि भारत की राष्ट्र-लिपि बन सकती है.....।" आपने कहा—"पहले मैं रोमन का बड़ा विरोधी था, किन्तु जब मैंने ऋगवेद के साथ भाष्य को भी रोमन में शुद्ध-शुद्ध पढ़ लिया तब से मैं उसका पक्षपाती हो गया।" रोमन-लिपि के पक्ष में और चाहे जो कारण हों किन्तु इस एक कारण से तो अधिकांश पाठक प्रभावित नहीं होंगे, क्योंकि जिस रोमन-लिपि में ऋगवेद का सायण भाष्य शुद्ध शुद्ध लिखा गया है वह लिपि रोमन-मात्र नहीं है। उस विशिष्ट लिपि की सारी वर्णमाला देवनागरी है। रोमन-लिपि में जितने अक्षर हैं लगभग उतने ही ऊपर-नीचे के चिन्ह हैं जिनकी सहायता से बिचारी रोमन-लिपि देवनागरी-उच्चारणों

को लिखने योग्य बन पाई है। केवल अपनी ही वर्णमाला को रखकर रोमन-लिपि तीन काल में किसी भी भारतीय भाषा को शुद्ध नहीं लिख सकती।

फाँसी से भी बढ़कर

आगे चल कर आपने विद्यमान् भारतीय लिपियों का विश्लेषण किया है। आपने कहा—"भारतीय लिपियों में देवनागरी और उर्दू यह दो लिपियाँ ही ऐसी हैं जो राष्ट्र-लिपि बनने का दावा कर सकती है।" इनमें "उर्दू-लिपि नागरी की अपेक्षा कम वैज्ञानिक है।" लेकिन तब भी आपको संतोष है कि "पिछली शताब्दियों में जब से उर्दू लिपि का पुलिस में व्यवहार हो रहा है, कभी आज तक एक भी रामलाल की जगह किसी एक भी रामनाथ को फाँसी नहीं हुई।" किसी एक लिपि की 'कम वैज्ञानिकता' के कारण देश के करोड़ों बच्चों की जो शिक्षा सम्बन्धी हानि होती है, और देश की सामान्य जनता में ज्ञान प्रसार करने में जो बाधा उपस्थित होती है, क्या सचमुच पण्डित जी की दृष्टि में वह इतनी बड़ी हानि नहीं जितनी किसी एक रामलाल की जगह किसी एक रामनाथ का फांसी चढ़ा दिया जाना! पण्डित जी ने स्वीकार किया है—"यदि मुझे इन दोनों लिपियों में से राष्ट्र भाषा के लिये कोई एक लिपि चुनने का अधिकार दिया जाय तो मैं निश्चयात्मक रूप से देव नागरी ही चुनूंगा, किन्तु......।" यहाँ एक बड़ी किन्तु है और उस एक किन्तु के ही कारण यद्यपि पंडित जी रोमन-लिपि के पक्षपाती हैं, यद्यपि वे निश्चयात्मक रूप से देवनागरी लिपि को ही राष्ट्र लिपि होने के योग्य मानते हैं, तो भी वे हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सदस्य की हैसियत से यह मानने पर मजबूर है कि "हर भारतीय के लिये दोनों लिपियों का ज्ञान अनिवार्य रहे।" पंडित जी ने इसका कारण समझाते हुये कहा है कि यदि दोनों भाषाओं—हिन्दी, उर्दू—को एक करना है तो दोनों भाषाओं का ज्ञान होना ही चाहिए, और दोनों भाषाओं के ज्ञान के लिये दोनों लिपियों का ज्ञान अनिवार्य है। हम जानना चाहते हैं कि क्या यह दोनों भाषाओं को

एक करने का कार्य प्रत्येक भारतीय करेगा ? हिन्दुस्तानी कमेटी के जो सदस्य यह 'एक करने का कार्य' करना चाहते हैं वे तो सम्भवतः दोनों से परिचित होंगे ही । अधिक से अधिक आप उत्तर-भारत के सभी सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से दोनों लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा पढ़ सकने की आशा कर सकते हैं। किन्तु प्रत्येक भारतीय के लिये दोनों शैलियाँ और दोनों लिपियाँ सीखने की क्या आवश्यकता और क्या उपयोग ? और यदि सभी को दोनों शैलियाँ और दोनों लिपियाँ सिखानी ही हैं तो फिर एक भाषा बनाने का प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता और क्या उपयोग ?

अहिन्दी प्रान्त और उभय-लिपि

आवश्यकता और उपयोग की बात छोड़ दें । सम्भव असम्भव का विचार करना ही है । पंडित जी से यह पूछने पर कि क्या अहिन्दी प्रांतों के वासी इस उभय-लिपि आंदोलन का स्वागत करेंगे ? आपने कहा—"हाँ, मद्रास में हज़ारों ने सीख ली है और हज़ारों सीख रहे हैं......।" हमें क्षमा किया जाय यदि हम नम्रतापूर्वक इन संख्याओं में अपना अविश्वास प्रकट करने पर मजबूर हों। आपने प्रमाण स्वरूप श्री० सत्यनारायण जी को पेश किया है। श्री सत्यनारायण जी स्वयं अहिन्दी भाषा-भाषी हैं और उन्होंने दक्षिण-भारत में हिन्दी प्रचार का बहुत काम किया है। मैं भी उन्हीं की बात कहता हूँ। वर्धा में एक दिन मैंने पूछा—"भाई, यह तो कहो कि क्या राजा जी (श्री राजगोपालाचार्य) इस उभय-लिपि आन्दोलन का स्वागत करेंगे ?" बोले—"हाँ"। मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ। श्री सत्यनारायण जी ने तुरन्त आश्चर्य दूर कर दिया। बोले--"राजा जी चाहेंगे कि राष्ट्र-भाषा के नाम पर उत्तर-भारत वाले हम पर दो दो लिपियाँ लादें। हमको कहने का मौका तो मिले कि ले जाओ अपनी दोनों लिपियाँ, हमें एक भी नहीं चाहिये।" मैं विश्वास करता हूँ कि यदि यह सतरें भाई सत्यनारायण जी की नज़र से गुजरेंगी तो वे उन्हें 'उपहास' कह कर तो अस्वीकार नहीं करेंगे ? स्मृति की सहायता के लिए शायद

यह जानकारी उपयोगी हो कि यह चर्चा हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मंत्री श्री श्रीमन्नारायण जी अग्रवाल की उपस्थिति में उन्हीं के बंगले पर हुई थी।

पंडित जी ने अपने वक्तव्यों में "तीस घंटे" में उर्दू-लिपि पर "मास्टरी" प्राप्त करने की बात कही है। आपने श्री वेंकट राव का प्रमाण दिया है कि उन्होंने वर्धा और बम्बई में यह 'एक्सपैरिमेंट' करके दिखा दिया। मेरी तुच्छ सम्मति में किसी भी उत्तर-भारतीय को जिसने स्वयं उर्दू सीखने में अपना काफी समय खर्च किया हो' श्री वेंकट राव से यह जानने की आवश्यकता नहीं कि उर्दू-लिपि पर कितने घंटे में "मास्टरी" प्राप्त की जा सकती है। हाँ, यदि उर्दू-लिपि पर "मास्टरी" प्राप्त करने का मतलब अलिफ, बे, पे याद कर लेना मात्र है तब तो बात ही दूसरी है।

संगम और गंगा-यमुना

राष्ट्र-लिपि के बाद राष्ट्र-भाषा। लिपि-गौण है और भाषा मुख्य। पंडितजी से यह पूछे जाने पर कि क्या हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के प्रयत्न से हिन्दी-उर्दू मिलकर कोई एक नई भाषा बन सकेगी, आपने कहा— "हिन्दुस्तानी कोई नई भाषा नहीं बनने जा रही है...वह तो बनी बनाई है।" फिर दूसरे प्रश्न के उत्तर में आपने ही कहा— "हिन्दुस्तानी प्रचार सभा वाले हिन्दी और उर्दू को मिला कर एक भाषा बनाने यानी उनके 'फ्यूजन' या 'संगम' के पक्ष में हैं।" 'संगम' की बात सुनते-सुनते एक अर्सा हो गया। हम केवल इतना जानना चाहते हैं कि क्या इन भाषाओं के 'फ्यूजन' के बाद 'गंगा' और 'यमुना' पृथक पृथक भी बहती रहेंगी, क्योंकि 'संगम' के बाद तो एक ही धारा रह जाती है? अथवा गङ्गा-यमुना पृथक पृथक भी बहती रहेंगी और मिल कर एक होकर भी बहेंगी? क्या उनका जो मिला हुआ स्वरूप होगा वह आज की हिन्दी और उर्दू दोनों से भिन्न नहीं होगा? यदि 'हां' तो फिर यह कहने में क्या आपत्ति है कि हिन्दुस्तानी प्रचार सभा एक नई भाषा बनाना चाहती है जो "न हिन्दी होगा, न उर्दू होगी।"

यह "हिन्दुस्तानी भाषा एक नई भाषा होगी भी और नहीं भी होगी" की स्थिति कोई बहुत संतोषप्रद नहीं है। दो तीन बार सब वक्तव्यों को मिलाकर पढ़ने से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पण्डित जी की कल्पना में बोलचाल की 'हिन्दुस्तानी' तो कोई नई 'हिन्दुस्तानी' नहीं बनेगी किन्तु साहित्यिक हिन्दुस्तानी दोनों का—हिन्दी उर्दू का एक "मीठा संगम" होगा। प्रश्न इतना ही है कि यह "मीठा संगम" होगा कैसे? पण्डित जी का उत्तर है—"जो शब्द भी चाहे वह फारसी से निकले हों, चाहे अरबी से, चाहे संस्कृत से........आम लोगों की ज़बान पर चढ़ गये हैं और सब उन्हें समझते हैं, वे हिन्दुस्तानी हैं।" क्या हम जान सकते हैं कि ये सब कौन? आल इंडिया रेडियो की जो कमेटी बैठी थी उसमें सर सुल्तान अहमद ने हमें बताया था कि 'विद्यार्थी' कोई नहीं समझता 'तालिबेइल्म' सब समझते हैं...... तो क्या विद्यार्थी 'हिन्दुस्तानी' नहीं रहेगा? और 'तालिबेइल्म' हिन्दुस्तानी रहेगा? भाषा का प्रश्न बिना गहराई में गये हल हो ही नहीं सकता। यदि आप पहले उन नियमों को—जिनके अनुसार आप की कल्पना की हिन्दुस्तानी बनेगी—तै करने कराने से घबराते हैं, तो किसी प्रकार की कोई भी 'हिन्दुस्तानी' कभी नहीं बन सकती। श्रद्धेय टंडनजी ने १६२५ में काँग्रेस के प्लेटफार्म के लिए 'हिन्दुस्तानी' की बात की, लेकिन वह किन्हीं दो भाषाओं के एकीकरण की बात नहीं थी। तो भी वे और उनकी तरह अनेक नेता एकीकरण के पक्षपाती हैं। लेकिन तब यह एकीकरण जहाँ का तहाँ क्यों खड़ा है? इसके कारण हैं।

राष्ट्रीयता के आवरण में सांप्रदायिकता

पंडित सुन्दर लाल जी की कल्पना में इसका मुख्य कारण यही है कि हिन्दु-मुसलमानों के परस्पर के शक अभी दूर नहीं हुये। उन्हें आशा है "जब हिन्दुस्तानी कमेटी के काम का नतीजा लोगों के सामने आएगा तो सब शक दिलों से मिट जायँगे।" आप की समझ में सारा विरोध 'दिलों के शक' की वजह से ही है। कहते हैं, व्यास-गद्दी पर

बैठने से सरल कोई कार्य नहीं। राजनीतिक क्षेत्र में जब जब काँग्रेस और सरकार का संघर्ष हुआ तब तब हमने देखा कि संघर्ष के अन्त में एक सप्रू, एक जयकर समझौता कराने वाले के रूप में आ उपस्थित हुये। हमें डर है कि भाषा के क्षेत्र में भी कहीं इतिहास अपनी पुनरावृत्ति तो नहीं कर रहा है ! 'हिन्दी' को 'हिन्दुओं' की भाषा कह कह कर और उसी प्रकार 'उर्दू' को 'मुसलमानों' की भाषा कह कह कर हिन्दी-उर्दू की 'एकता' से हिन्दू-मुसलमान एकता कराने वाले एकता के कितने ही बड़े पक्षपाती क्यों न प्रतीत हों, किन्तु हमें सचमुच सन्देह है कि कहीं इतिहास ऐसे लोगों में से अधिकाँश को 'साम्प्रदायिकता के सब से बड़े पोषक' न सिद्ध करे। आख़िर यह 'साम्प्रदायिकता' जिसे हर राष्ट्र-कर्मी दिन रात कोसता है, और उचित रूप से कोसता है, क्या चीज़ है ? किसी भी बात पर विचार करते समय, किसी भी प्रश्न के निर्णय के लिए कही हुई बात का विचार न कर, बात कहने वाले के सम्प्रदाय की ओर देखना साम्प्रदायिकता है। हिन्दू सभा का सदस्य होने के लिए सब से पहले 'हिन्दू' होना आवश्यक है, और मुसलिम लीग का सदस्य होने के लिए सब से पहले 'मुसलमान' होना; इसीलिए तो दोनों संस्थाएँ साम्प्रदायिक संस्थाएँ हैं न ? १६४२ में जब हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना हुई तो उसके पदाधिकारियों का चुनाव हो रहा था। राजेन्द्र बाबू जो उसके अध्यक्ष हैं, सभापति के आसन पर थे। बात वर्धा की ही है। राजेन्द्र बाबू ने सभासदों को सुझाया कि वे कुछ पदों को तब तक खाली रखें जब तक कुछ और 'मुसलमान' सज्जन सभा के सदस्य न बन जायें। इन पंक्तियों के लेखक के मुँह से, जो सभासद न होते हुये भी सभापति की कृपा से वहाँ उपस्थित था, निकल गया—"राजेन्द्र बाबू ! यह अच्छी राष्ट्रीयता है कि सम्प्रदाय-विशेष के लोगों की प्रतीक्षा की जाय।" उत्तर मिला—"अरे ! क्या कहते हो, वे नहीं आयेंगे तब तो सभा ही बन्द कर देनी होगी।" मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक जानना चाहता हूं कि हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के अध्यक्ष

के इस दृष्टिकोण को आप क्या कहेंगे ? इन पंक्तियों के लेखक को किसी भी संस्था में चाहे सभी 'मुसलमान' हों और चाहे सभी 'हिन्दू' हों कोई आपत्ति नहीं। जो उस संस्था के उद्देश्य से सहमत हों उसमें शामिल हों, उसमें रहें, किन्तु यह सम्प्रदाय विशेष की प्रतीक्षा क्यों ? साम्प्रदायिकता यों ही इतनी ख़तरनाक है, किन्तु जब वह राष्ट्रीयता का चेहरा लगाकर आए तब तो उससे बढ़कर भयावह कुछ हो ही नहीं सकता। संभव है कि मैं गलती पर होऊँ, किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि अनेक हिन्दी-उर्दू वाले हिन्दुस्तानी प्रचार सभा से जो उसके आरम्भ में ही बदगुमान हो गये हैं, उसका मुख्य कारण यह नहीं कि उनके दिल में आपस में 'शक' है किन्तु यह है कि किसी को भी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का यह प्रयत्न शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि से किया हुआ प्रयत्न नहीं लगता। यह तो बिचारी भाषा को साम्प्रदायिक राजनीति के अखाड़े में धर घसीटना मात्र है, फिर उसकी और उसके बोलने वालों की चाहे जो दुर्गति हो !

सामान्यतः नेतागण अनुयाइयों के नेता होते हैं, किन्तु अभागा है वह देश जहाँ के नेता अपने अनुयाइयों के अनुयाई हो जाते हैं। आज का भारतीय नेतृत्व उसी अवस्था को तो नहीं पहुँच गया है ?

पाकिस्तान का सिद्धान्त

एक बात और, और फिर समाप्त। पंडित सुन्दर लाल जी ने अपने 'इन्टरव्यू' में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के रेडियो विरोध की चर्चा की है। आपका कहना है, 'रेडियो' की 'हिन्दुस्तानी' में उर्दू के साथ साथ 'हिन्दी' का भी आग्रह करना द्वि-जाति सिद्धान्त (Two Nation Theory) का समर्थन करना है। उर्दू के साथ हिन्दी का आग्रह करना द्वि-जाति सिद्धान्त का समर्थन करना है ! ठीक ! और हिन्दी के साथ उर्दू का आग्रह भी किसी सिद्धान्त का समर्थन करना है या नहीं ? अहिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों में लाखों आदमियों ने हिन्दी लिखना-पढ़ना सीख लिया है और करोड़ों समझते होंगे। अब आप राष्ट्रीयता के नाम पर चाहते हैं कि वहाँ

'उर्दू' भी अवश्य जारी हो। हम जानना चाहते हैं कि किस कारण से रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' में 'हिन्दी' का आग्रह करना द्वि-जाति सिद्धान्त का समर्थन करना है और किस कारण से वर्धा की 'हिन्दुस्तानी' में उर्दू का आग्रह करना द्वि-जाति सिद्धान्त का समर्थन करना नहीं है !

यह तर्क भी कितना मनोरञ्जक है कि राष्ट्रीय एकता के लिए भाषा एक होनी चाहिए और राष्ट्रीय-एकता ही के लिए लिपियाँ दो ! आख़िर यह एक और दो का भेद क्यों !

अभी तो राष्ट्रीयता के नाम पर साम्प्रदायिकता का बीज़-वपन हिन्दी उर्दू में ही अपना रङ्ग लाया है। सुनते हैं यह बीमारी बंगला, गुज़राती की ओर भी बढ़ने लगी है।

क्या सचमुच 'हिन्दू' 'मुसलमान' को छोड़ कर भारत माता के और कोई दो टुकड़े हो ही नही सकते !



श्री करुणा—ये कब छूटेंगे ?

क्या आप को 'लोकनाथ' नाम से ऐसा लगता है कि यह किसी इटली-वासी का नाम है ? आज से लगभग १५ वर्ष पहले मुसोलिनी के देश के एक तरुण ने सिंहल या बर्मा में प्रव्रज्या ग्रहण की। भिक्षु होने पर उनकी चर्य्या, उनका रहन-सहन कुछ इतना आकर्षक था, इतना नाटकीय था कि एक समय वह सिंहल, स्याम बर्मा में देवता की तरह पूजे जाने लगे। यहाँ भारत में तो लोहे की कीलों पर लेट सकने वाले साधु भी हैं, किन्तु सिंहल-स्याम के लोगों के लिये यही बड़ी बात थी कि वे रात को चारपाई पर न सोते थे। उन्हें थोड़ा अभ्यास हो गया था जिससे वे कुर्सी पर बैठे बैठे ही ऊंघ लेते थे। लोग रात को खिड़कियों में से झांख झांख कर देखते। वे उन्हें सदैव कुर्सी पर ही बैठा पाते। एक मुँह से दूसरे मुँह उनकी ख्याति फैलने लगी। जब मैं सन् '३३ में विदेश से लौटा तो वे एक विहार में एक प्रकार का क्षेत्र-सन्यास लिये थे। किसी से कुछ न बोलते। बातचीत करनी ही होती तो लिख कर करते। उनका कहना था कि जब तक वह अर्हत अर्थात् जीवन-मुक्त न हो जायेंगे तब तक वे मौन ही रहेंगे। दोपहर को जब वह अपनी कोठरी से भिक्षा मांगने के लिये बाहर निकलते तो तभी हज़ारों दर्शनार्थियों की भीड़ उनका दर्शन कर पाती। उन्हें भिक्षा देने वालों की संख्या इतनी अधिक बढ़ी कि दाताओं की व्यवस्था करने के लिये एक कमेटी का संगठन करना पड़ा। उनकी शिक्षा सामान्य थी, धर्म का ज्ञान उससे भी कम; तो भी दिन भर वह हजारों आदमियों से घिरे रहते। मैं समझता हूं कि इस में एक कारण तो उनकी सफ़ैद चमड़ी

थी, लेकिन दूसरा कारण और बड़ा कारण जनता का कौतुक-प्रिय होना है। किसी के चरित्र में जनता कुछ भी असामान्य देखती है, बस घेरकर खड़ी हो जाती है। सड़क पर रीछ का तमाशा दिखाने वाले से लेकर बड़े बड़े महात्मा तक—सब जनता की इस प्रवृत्ति को समझते हैं। जो जितना ही अधिक समझता है और जो जितना ही अपने को तदनुरूप बना सकता है वह उतना ही बड़ा जनप्रिय नेता बन जाता है। वह कौन सा देश है जहाँ की जनता प्रातिहारियों या करिशमों में विश्वास नहीं करती? वह कौन सा युग है जिसमें जनता प्रातिहारियों या करिशमों में विश्वास नहीं करती? जनता की इस प्रवृत्ति के कारण ही शायद श्री बर्नर्ड शा को कहना पड़ा है—

"मूर्खों के देश में एक देश-भक्त 'महात्मा' बन जाता है, जहाँ सभी उसकी पूजा करते हैं, किन्तु कोई भी उसका अनुकरण नहीं करता।"

हाँ, तो एक दिन जिस बिहार में भिक्षु लोकनाथ रहते थे, उसी में मेरा भी जाना हुआ। लोगों ने पूछा—"आप नहीं मिलियेगा?" मैंने कहा—"विशेष इच्छा नहीं है।" देखा, लोगों को अच्छा नहीं लगा। उनकी भावना का ख्याल कर भिक्षु लोकनाथ से मिलना स्वीकार कर लिया। बिना मिले भी हम थोड़े बहुत परिचित थे। वे बोले—

"आप मेरे साथ अमरीका चलेंगे?"

"किस लिये?"

"धर्म प्रचार के लिये?"

"क्या आप नहीं समझते कि सिंहल को भी धर्म-प्रचार की आवश्यकता है?"

"सिंहल में धर्म-प्रचार करना अमरीका में प्रचार करने से भी कठिन है।"

बातचीत लिख कर हो रही थी। मैंने वह कागज़ जिस पर उन्होंने यह वाक्य लिखा था ले लिया और कहा कि मैं आपकी इस राय को

पत्रों में छपवा देना चाहूँगा। भिक्षु लोकनाथ घबराये। यदि छपवाने दें तो जनता की नजरों में गिरने का डर और यदि मना करें तो मेरी दृष्टि में ओछे पड़ने का डर। मैंने कागज़ लौटाते हुए कहा—"आप घबरायें नहीं। यह लें, मैं इसे छपवाने नहीं जा रहा हूँ।"

जनता जिन्हें न जाने अध्यात्म की किस भूमि पर पहुंचे हुए महात्मा समझती थी, वह भी अपनी तरह मानव ही थे।

कुछ दिन बर्मा, कुछ दिन सिंहल और कुछ दिन स्याम में—इसी प्रकार वह चक्कर लगाते रहते थे। फकीरी में अमीरी का ठाट था। उन्होंने तीनों देशों के बौद्धों—विशेष कर भिक्षुओं—के सम्मुख रोम को बौद्ध बनाने की योजना रखी। कहा कि हम लोग सिंहल, स्याम बरमा से सैंकड़ों-हजारों की संख्या में बुद्ध-गया में इकट्ठे होंगे। सारी यात्रा पैदल होगी—यात्रा क्या, भिक्षुओं की एक चलती फिरती यूनिवर्सिटी होगी। बुद्ध-गया पहुँच कर, बिहार, युक्त-प्रान्त, पञ्जाब तथा सीमा-प्रान्त के रास्ते अफगानिस्तान पहुँचा जायगा और इस प्रकार धार्मिक दिग्विजय करते हुए एक न एक दिन रोम पहुँच कर पोप को बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी जायगी। उन्होंने इस मतलब के लिये तीनों देशों के बौद्ध-भिक्षुओं का आवाहन् किया। इसमें सन्देह नहीं कि आज के भिक्षु कुछ विशेष नहीं कर सक रहे हैं, किन्तु वे हैं तो सब उसी परम्परा में जो बुद्ध के सन्देश को न जाने कहाँ कहाँ पहुँचाने में सफल हुई थीं। भिक्षु लोक-नाथ ने जब उनके सामने रोम की दिग्विजय का चित्र खड़ा किया तो यह बात उनके हृदय में ऐसी ही बैठ गई जैसे गान्धी जी की डाराडी यात्रा हम भारतीयों के हृदय में। कुछ सौ सिंहल से, कुछ सौ बर्मा से और कुछ सौ भिक्षु स्याम से साथ हो ही तो लिये। इस चलती-फिरती यूनीवर्सिटी में भर्ती होने के लिये कुछ लोगों ने अपने स्कूल और कालेज छोड़ दिये, किसी किसी ने अपने आफिस तक। स्याम से जो भिक्षु साथ हुये उन में एक जो आयु में कदाचित् सब से छोटे थे श्री करुणा थे। उन्होंने इस चलती फिरती यूनिवर्सिटी में नाम लिखाने के लिये ही अपना स्कूल छोड़ा और पीत-वस्त्र धारण

किया। मामूली कल्पना थी! लगभग एक हजार भिक्षु पैदल यात्रा कर रोम पहुँचने वाले थे और उन्हें पोप को बौद्ध बना लेने का वैसा ही विश्वास था जैसा १६२१ में हम भारतीयों को इकत्तीस दिसम्बर की रात को स्वराज्य मिलने का।

भिक्षुओं का एक दल बैङ्कांक से रवाना हुआ। स्याम और बर्मा के बीच का सारा पहाड़ी रास्ता पैदल तै कर रंगून पहुँचा। दूसरा दल रंगून में शामिल हुआ। सैकड़ों भिक्षुओं की एक मण्डली, प्रत्येक पाँच दस मील पर ठहरती चली आ रही थी। हर गाँव में उनके पहुँचने से पहले उनका समाचार पहुँच जाता। खाने, पीने ठहरने को व्यवस्था होती चलती। भिक्षु लोकनाथ ने अपने अनुयाइयों को सिंह-हृदय भिक्षु कहा था—लायन-हार्टेड। कोई कोई साथ न भी दे सकते थे। उन्हें वह "जी, बी" देते थे, जिसका मतलब था 'गो-बैक' अर्थात् वापिस चले जाओ। ज्यों ज्यों मण्डली बढ़ने लगी और भिक्षु लोकनाथ की काल्पनिक योजना वास्तविक परिस्थिति से टकराने लगी त्यों त्यों 'जी, बी' पाने वालों की संख्या भी बढ़ने ही लगी। जब तक स्याम रहा, जब तक बर्मा रहा—दो बौद्ध देश रहे—खाने पीने की व्यवस्था होती चली, यह चलती-फिरती यूनिवर्सिटी भी बनी रही, लेकिन जब उन्होंने रंगून से कलकत्ते तक की जहाज की यात्रा करके भारत में—एक अबौद्ध देश में—पैर रखा उसी समय से इस चलती फिरती यूनिवर्सिटी के बजट में घाटा दिखाई देने लगा। भारत बौद्ध न सही, फिर भी साधु-सेवी है। सामान्य जनता साधु को पहचानती है, बौद्ध-अबौद्ध के भेद की उसे विशेष जानकारी ही नहीं। फिर, एक गौर-वर्ण साधु के नेतृत्व में कुछ सौ भिक्षुओं की मण्डली—जो रोम विजय करने के लिये निकले थे—प्रत्येक भारतीय के कुतूहल को ही नहीं उसके छिपे स्वाभिमान् को भी स्पर्श करती थी। रोम का बौद्ध होना सिंहल-स्याम बर्मा की विजय नहीं वह रोम पर भारत की ही विजय होगी, क्योंकि बुद्ध को लाख छोड़ देने पर भी भारत बुद्ध को नहीं ही छोड़ सकता—कुछ ऐसी ही अर्ध-ज्ञात भावना के परिणाम स्वरूप कलकत्ते में भी इस यूनिवर्सिटी

को विशेष कष्ट न हुआ। कलकत्ता से यह भिक्षु-सेना बुद्ध-गया पहुँची। लेकिन गया में सचमुच गया को फलगु नदी की ही तरह सूखने लगी। गया से आगे बढ़ते बढ़ते वह एक दम सूख ही गई। भिक्षु लोकनाथ के लगभग सभी सिंह-हृदय भिक्षु एक एक करके अपने अपने देश लौट गये। लौटे हुओं पर उनके देश के लोग हंसे। उन्होंने स्वयं भी अपने को धिक्कारा। अपने भाग्य को धिक्कारा, अपनी बुद्धि को धिक्कारा और सब से अधिक भिक्षु लोकनाथ को धिक्कारा। आज तीनों बौद्ध देशों में भिक्षु लोकनाथ एक अप्रिय शब्द बना हुआ है। लोग बात करते हैं तो आश्चर्य करते हैं कि किस प्रकार एक आदमी इतने लोगों को उल्लू बनाने में सफल हो गया था? इसमें दोष न भिक्षु लोकनाथ का था, न और किसी का—सारा दोष जनता की उस प्रवृत्ति का था जो सामान्य की अपेक्षा असामान्य पर—असाधारण पर— इतनी लट्टू हो जाती है कि थोड़ी देर के लिये अपनी अक्ल को एकदम ताक पर ही रख देती है।

आज समाज को ऐसे ही लोगों की सेवा की आवश्यकता है जो सामान्य रूप से जनता में घुले मिले रह कर देश और समाज की असामान्य सेवा कर सकें।

× × ×

इस चलती फिरती यूनिवर्सिटी के दो चार सभासद् छितरा कर भारत में रह गये। एक भिक्षु वीर तो अभी कशमीर की यात्रा में बहुत दिन साथ थे। दूसरे हैं श्रामणेर करूणा। श्रामणेर एक प्रकार का ब्रह्मचारी होता है जो बाद में संघ से पूरी दीक्षा लेकर भिक्षु बनता है। श्रामणेर करूणा भटक भटका कर सारनाथ पहुँचे। मैं कहीं बाहर से आया था। परिचय हुआ—स्याम देश का एक कम आयु का तरुण जो भारत की कोई भाषा नहीं बोलता। अंग्रेज़ी का अल्प-मात्र ज्ञान। सारनाथ में न रह सकता तो वह कहाँ रहता! सारनाथ ने रखना स्वीकार कर लिया। समस्या थी शिक्षा की। साथियों ने मेरी ओर देखा। मैंने कहा—"अच्छा, मैं पढ़ाऊँगा।" सामान्य ख्याल है कि

यदि दो जनों के बीच कोई माध्यम न हो तो पढ़ाई असम्भव है। मेरे और श्री करुणा के बीच कोई माध्यम न था। मैं भाषा विशेष की शिक्षा के लिये किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं समझता। भाषा का दूसरा माध्यम न हो और पढ़ने पढ़ाने वाले जरा एक दम मूर्ख न हों तो अपेक्षाकृत अच्छी प्राप्ति होती है। मैंने करुणा को हिन्दी पढ़ानी आरम्भ की—(१) कभी एक भी शब्द अकेला नहीं सिखाया। शब्द का यथार्थ ज्ञान तभी होता है जब विद्यार्थी को किसी वाक्य में उस शब्द को प्रयुक्त देख कर अन्य शब्दों के साथ उसका सम्बन्ध भी समझ में आ जाता है। (२) कभी एक भी शब्द दुबारा नहीं बताना पड़ा। पहली बात में यदि थोड़ी मेरी विशेषता समझी जाय तो दूसरी बात तो श्री करुणा की ही विशेष थी। अपनी धारणा-शक्ति के बल पर वह रोज काफी शब्दों को हृदयङ्गम कर लेते थे। हि० सा० सम्मेलन की "राष्ट्र-भाषा" परीक्षा दी, तो उस वर्ष करुणा ही सर्व प्रथम विद्यार्थी थे। उनका सर्वप्रथम आना मुझे उस दिन अच्छा लगा था और आज उसकी याद अच्छी लग रही है।

हिन्दी की पढ़ाई काम लयक हो जाने पर उन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी की ओर ध्यान दिया। उनकी प्रगति देखकर मैं जान गया कि मैं उन्हें अधिक दिन संस्कृत न पढ़ा सकूँगा। तो भी आरम्भ करा देने में कोई हर्ज न देख आरम्भ करा दी। अंग्रेज़ी में उनकी ज्यों ही कुछ प्रगति हुई, उन्होंने दिल्ली के एक पत्र-व्यवहार स्कूल से सम्बन्ध जोड़ लिया! नियमित अध्ययन से उनका अंग्रेजी का ज्ञान भी एक ग्रेजुएट के आस-पास का हो गया। संस्कृत की गाड़ी भी कुछ चल निकली। आजकल के स्कूलों, कालिजों में तो अध्यापक को विद्यार्थी अपना वेतन भोगी नौकर ही समझने लगे हैं, किन्तु पुरानी शिक्षाप्रणाली में और लाख दोष होते हुये भी शिष्य अध्यापक को सेवारूपी फीस से ही अधिक प्रसन्न रख सकता है। करुणा के पास सेवा-रूपी धन की कमी न थी फिर यदि किसी 'आचार्य' का मन रूपी पलड़ा उधर झुक जाय तो इसमें उसका

क्या दोष ?

एक बार वे घर जाने के लिए बहुत व्याकुल हो गये। घर लौट कर मातृ-भूमि की सेवा करना ही उनकी एक मात्रा मनोकामना थी। मैंने अपनी दृष्टि से समझाया—"मातृ-भूमि की सेवा करने के लिये मातृ-भूमि की गोद में बैठना आवश्यक नहीं। भारत में रहने वाले भी भारत की सेवा नहीं करते और अनेक भारत-प्रवासी भी भारत की सेवा करते हैं। थाईलैण्ड की सेवा के लिए संस्कृत का ऊँचा ज्ञान उपयोगी हो सकता है। थाईलैण्ड लौटना हो तो संस्कृत का पंडित होकर लौटना चाहिए।" श्री करुणा ने भारत में रहकर संस्कृत का ऊँचा अध्ययन करना स्वीकार किया। सौभाग्य से उन्हीं दिनों स्याम देश के एक राजकर्मचारी सारनाथ के दर्शनों के लिए आये। उन्होंने श्री० करुणा के अध्ययन की सारी आर्थिक जिम्मेवारी, अपने सिर पर ले ली। हम सब को बड़ी प्रसन्नता हुई।

सारनाथ से संस्कृत के ऊँचे अध्ययन के निमित्त वे शान्ति निकेतन चले गये। वहाँ आचार्य्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विशेष ध्यान से पढ़ाना स्वीकार किया। आचार्य्य के पत्रों में शिष्य की प्रशंसा रहती और शिष्य के पत्रों में आचार्य्य के प्रति कृतज्ञता। मैं मन ही मन गद्‌गद् हो उठता था।

श्री० करुणा जब सारनाथ में रहते थे तो वे दो चार अखबारों का नियमित अध्ययन करते थे। अपने देश के पत्रों में तो उन्होंने यहाँ रहते कई लेख भी लिखे। लेख प्रायः सभी सांस्कृतिक। लेकिन वे सभी देशों की राजनीतिक स्थिति से परिचित रहने का भी प्रयत्न करते।

उन्होंने हिन्दी में भी लेख लिखने आरम्भ किये। 'यह उपेक्षा क्यों' शीर्षक से उन्होंने 'विशाल-भारत' में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने इस बात पर अपना आश्चर्य और दुःख प्रकट किया था कि हम लोग प्रचलित संस्कृत शब्दों का व्यवहार त्याग कर उनकी जगह अर्बी-फारसी के विचित्र विचित्र शब्द भर रहे हैं, और वे अपने

देश में सब ख़ास ख़ास शब्द संस्कृत से ही ले रहे हैं। बैंक के लिये *धनागार* और नोट के लिये *धन-पत्र* क्या अच्छे शब्द हैं !

जिस समय जापान 'शत्रु-देश' बना और करुणा का देश थाई-लैण्ड भी उसी गुट में शामिल हो गया तो 'शत्रुदेश का होने के कारण' अंग्रेजी सरकार ने श्री० करुणा को पकड़ कर दिल्ली के किले में बन्द कर दिया। एक लम्बा अर्सा दिल्ली के किले में कैद रहने के बाद उन्हें देवली ले जाया गया, जहाँ वह इस समय तक कैद हैं, यद्यपि आज जापान पूरी तरह निरस्त्र कर दिया गया है।

प्रिय करुणा ! तुम्हारे अनेक मित्र तुम्हारे जेल से बाहर आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब वह घड़ी समीप है जिसकी कब से इन्तजार है। आशा है इन चार वर्षों का कठोर जेल-जीवन तुम्हारी करुणा की कोमलता को स्पर्श नहीं ही कर सका होगा।



जनता का साहित्य—
जातक कथायें

[१]

हमारे प्राचीन वाङ्मय को केवल परलोक-परक कह कर कुछ योरोपीय विद्वानों ने अपनी समझ में हमारी बड़ी प्रशंसा की है और गजब है कि हमने भी उसे प्रशंसा ही समझा है। हमारा सारा प्राचीन वाङ्मय केवल परलोक ही परलोक की चिन्ता करने वाला हो, ऐसी बात नहीं है; वह केवल आत्मा-परमात्मा की ही चर्चाओं से भरा हो ऐसी भी बात नहीं है। हमारे प्राचीन वाङ्मय में काफ़ी साहित्य ऐसा है, जिसे हम जनता का साहित्य कह सकते हैं, जो आसमान की चीज़ न होकर इसी ज़मीन की चीज़ है; परलोक-परक न होकर इह-लोक-परक है अथवा जो परलोक और इह-लोक में समत्व स्थापित करने के प्रयत्न का परिणाम है। बौद्धों की जातक कथायें ऐसा ही साहित्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें से कुछ कथायें निर्विवाद रूप से दो हज़ार वर्ष पुरानी हैं—सांची और भरहुत के स्तूपों में अंकित होकर वे पत्थर की लकीरें बन गयी हैं, किन्तु जिस समाज का वह चित्र खींचती हैं वह शायद इससे भी कहीं अधिक पुराना हो।

समाज के विकास की कथा पढ़ते हैं तो हमें पहले मातृ-सत्ता युग का दर्शन होता है जब पुरुष को इस बात की कल्पना भी नहीं हो

सकती थी कि कभी वह भी अधिकारारूढ़ होगा और मातृ-जाति के हाथ से निकल कर सारी सत्ता उसी के हाथ में आ जायगी। जातक-कथाओं में उस प्राचीनतमयुग की कोई कथा नहीं है।

मातृ-सत्ता युग के बाद पितृ-सत्ता युग आता है। तब आर्थिक और राजनीतिक इकाइयों के तौर पर हम एक-एक जन को एक जगह से दूसरी जगह घूमते देखते हैं। जगह-ज़मीन जो कुछ भी है जन की है—व्यक्ति की नहीं। जातक-कथाओं में उस प्राचीन युग की भी शायद कोई कथा नहीं है।

इसके बाद **जन-पद युग** है, जब चलते-फिरते जन प्रदेश-विशेष में बस जाते हैं और अनेकों जन आपस में मिल कर बड़े-बड़े जन-पदों की नींव डालते हैं। राजनीतिक विकास की दृष्टि से जनता के हाथ में काफ़ी सामर्थ्य रहते हुये भी राज-सत्ता की स्थापना हो जाती है। आर्थिक विकास की दृष्टि से शिकार और पशुपालन के युग से गुजर कर हम कला-कौशल और व्यापार के युग में प्रवेश कर चुके हैं। सामाजिक विकास की दृष्टि से इस समय एक जन एक इकाई न रह कर एक **परिवार** ही एक इकाई बन गया है। अब न यह जन युग है, न जन-पद युग है, किन्तु सामन्त-शाही युग है।

जातक कथाओं में, जो मेरी समझ में भारत का प्राचीनतम कथा-संग्रह ही नहीं, विशालतम कथा-संग्रह भी है—हमें अपने देश के नित्य बदलते हुए समाज के इसी रूप की झाँकी मिलती है।

मनुष्य का विकास या ह्रास प्रायः चतुर्मुखी होता है। आर्थिक-ढाँचा, राजनीतिक-संगठन तथा धार्मिक और सामाजिक आचार-विचार सब एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। एक के बदलने से दूसरी बातों में भी अनिवार्य तौर पर परिवर्तन आता है। हाँ, तो कुछ नमूने की जातक-कथायें इस प्रकार हैं—

१ व्यक्तिगत-सम्पत्ति

एक राजा ने जंगल से एक बन्दर पकड़वा मँगाया। उसको अपने

यहाँ बहुत दिनों तक रखा। तरह-तरह के करतब सिखाये। जब वह उसके करतबों से बहुत प्रसन्न हुआ तो उसने आज्ञा दी—बन्दर को छोड़ दो। बंदर ख़ुशी-ख़ुशी भाग कर अपने साथियों में पहुँचा। साथी-बन्दर घेर कर खड़े हो गये। बोले, "कामरेड! इतने दिन तक तुम कहाँ रहे?"

"मैं मनुष्यों में रहा।"

"हाँ, हाँ, तो बताओ मनुष्य कैसे होते हैं! हम उनकी करनी सुनना चाहते हैं।"

"मनुष्यों की करनी! कुछ न पूछो, उसका न कहना ही भला है।"

"नहीं, नहीं। अवश्य कहो। हम उसे सुनना चाहते हैं।"

"अच्छा तो लो सुनो। मनुष्यों का तरीक़ा यह है कि वह दो-दो एक घर में रहते हैं। एक उनमें लम्बी मूछ वाला होता है और दूसरा लम्बे स्तन वाला। जो लम्बे स्तन वाला होता है उसके नाक-कान विंधे रहते हैं। रात-दिन इनकी यह चर्चा रहती है—मेरा हिरण्य! मेरा सोना! जो लम्बे स्तन वाला होता है, वह धन से ख़रीदा गया होता है और वह दास दासियों को बहुत तंग किया करता है।"

बन्दर बोले—"बस करो। बस करो। अधिक सुनने में भी पाप लगता है।"

जिस शिला पर बैठकर उन्हें मनुष्यों की करनी सुनने को मिली, उस शिला को भी अपवित्र समझ, वह उसे छोड़ कर चले गये।

यह पूँजीवाद-समाज के आरम्भ की ही कथा नहीं है, यह उसके प्रति किसी दिल जले का विद्रोह भी है।

२ सामंतों का लोभ

एक राजा था। बड़ा ही लोभी। एक दिन उसके पास इन्द्र एक ब्रह्मचारी का रूप बनाकर पहुँचा। राजा ने पूछा—

"ब्रह्मचारी! किस मतलब से आये?"

"महाराज ! मुझे तीन नगर ऐसे दिखायी देते हैं जो शान्त हैं, धन-धान्य से पूर्ण हैं, जहाँ हाथी, घोड़े, रथ और पैदल बहुत हैं, तथा जो हिरण्य, स्वर्ण के अलङ्कारों से भरे हैं। उन नगरों को थोड़ी ही सेना से जीता जा सकता है। मैं तुम्हें वे नगर जीत कर देने के लिये आया हूँ।"

"ब्रह्मचारी ! कब चलेंगे ?"

"महाराज ! कल।"

"तो जा, प्रातःकाल ही आना।"

"अच्छा महाराज ! जल्दी से सेना तैयार करायें," कह इन्द्र अपने इन्द्रलोक को चला गया।

अगले दिन राजा ने मुनादी करवा दी, सेना तैयार करवायी और अमात्यों को बुलाकर कहा, "कल एक ब्राह्मण तरुण ने उत्तर-पाञ्चाल, इन्द्रप्रस्थ तथा केकय, इन तीन नगरों के राज्य को जीत कर देने के लिये कहा है। उस तरुण को लेकर तीनों नगरों का राज्य जीतेंगे। उसे जल्दी से बुलाओ।"

"देव ! उसे निवास-स्थान कहाँ दिलवाया है ?"

"मैंने उसे निवास-गृह नहीं दिलवाया है।"

"उसे भोजन-खर्च दिया ?"

"वह भी नहीं दिया।"

"उसे कहाँ ढूँढ़े।"

"नगर की गलियों में ढूँढ़ो ?"

उन्होंने ढूँढ़ा। न मिलने पर कहा—

"महाराज ! दिखायी नहीं देता।"

ब्रह्मचारी को न देखने से राजा को महान शोक हुआ। उसने सोचा—अरे ! एक तरुण ने आकर कहा कि मैं तीन नगरों का राज्य जीत कर दूंगा। मैंने उसे निवास-स्थान वा भोजन-खर्च नहीं दिया।

वह मुझसे क्रुद्ध होकर दूसरे राजा के पास चला गया होगा। अरे! इतना बड़ा ऐश्वर्य जाता रहा! उसका हृदय गर्म हो गया। रक्त प्रकुपित हो गया। उसे रक्तातिसार हो गया।......

कहानी लम्बी है, किन्तु उस युग के एक सामन्त के लोभ की पराकाष्ठा है। क्या इससे तीखी कहानी की कल्पना की जा सकती है?

३ सामंतों का अत्याचार

एक राजा था। वह अधर्म से अनुचित तौर पर राज्य करता था। जनता को वह ऐसे पीड़ता था जैसे ऊख-यन्त्र ऊख को। वह रौद्र स्वभाव का था, कठोर था और दुस्साहसी था। उसमें किसी के लिये कुछ भी दया न थी। घर में स्त्रियों का, लड़के-लड़कियों का, अमात्य-ब्राह्मणों का—सब का अप्रिय था। वह ऐसा था, मानो आँख में धूल हो, भात के कौर में कंकर हो अथवा एड़ी को बेंध कर काँटा घुस गया हो। उस राजा का नाम था महापिङ्गल। पिङ्गल कहते हैं बिल्ली की सी आँख वाले को।

चिरकाल तक राज्य करके जब पिङ्गल मर गया तो सारी जनता ने ख़ुशी मनाई। उसके लड़के को राजसिंहासन पर बिठाया।

उत्सव-भेरी बज रही थी। ध्वजाओं तथा पताकाओं से नगर अलंकृत था। दरवाज़े दरवाज़े पर मंडप थे। खीलें तथा पुष्प हर जगह बिखरे पड़े थे। राजा श्वेत छत्र के नीचे विराजमान था। अमात्य, ब्राह्मण, गृहपति तथा राष्ट्रिक राजा को घेरे खड़े थे। एक द्वारपाल थोड़ी ही दूर पर खड़ा सिसकियाँ लेता हुआ रोने लगा। राजा ने पूछा—"सौम्य! मेरे पिता के मरने पर सभी खुशियाँ मना रहे हैं। लेकिन तू खड़ा रो रहा है। क्या मेरा पिता तुझे ही प्रिय था?"

द्वारपाल बोला—"मैं इस शोक से नहीं रोता हूँ कि महापिङ्गल मर गया। मेरे सिर को तो सुख हुआ। पिङ्गल राजा प्रासाद से उतरते हुए और चढ़ते हुए हथौड़ी से चोट लगाने की तरह मेरे सिर पर आठ

आठ टोंके लगाता था। वह परलोक जाकर भी, जैसे मेरे सिर में टोंकें लगाता था उसी तरह यमराज के सिर में भी टोंकें लगायेगा। 'यह हमें बहुत कष्ट देता है' सोच कर यमराज उसे फिर यहाँ लाकर छोड़ जा सकते हैं। वह मेरे सिर में फिर टोंकें मारेगा। मैं इस कारण रोता हूँ।"

सामन्तों के 'राम-राज्य' की कहानियाँ हमें बहुत सुनने को मिलती हैं, लेकिन हमारे वाङ्मय में ऐसी कहानियाँ भी हैं जो बताती हैं कि एक युग था जब जनता को मरे हुए सामन्तों से भी डर लगता था। इस कथा का द्वारपाल उसी युग की जनता का प्रतिनिधि है।

४ देवताओं के प्रति

इस लोक में जो स्थान सामन्तों वा राजाओं का रहा है, परलोक में वही स्थान उनकी मानसिक प्रतिच्छाया देवताओं का। राजा भी बलि (टैक्स) लेकर प्रसन्न होते हैं, देवता भी बलि लेकर। वैदिक युग तक इन देवताओं का एकछत्र राज रहा, किन्तु पीछे चलकर देवताओं और उनको प्रसन्न करने के साधन--यज्ञों के प्रति लोगों की श्रद्धा कम हो गयी।

उसी समय की एक कथा इस प्रकार है।

पूर्व समय में राजा ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय उदीच्य ब्राह्मण कुल में एक कुमार का जन्म हुआ। पैदा होने के दिन माता-पिता ने जन्म-अग्नि लेकर रक्खी। सोलह वर्ष की आयु होने पर वह बोले—

"पुत्र! तेरे जन्म के दिन हमने आग रखी थी। यदि गृहस्थ होना चाहता है तो तीनों वेद सीख। यदि ब्रह्मलोक जाना चाहता है तो आग लेकर जंगल चला जा, वहाँ अग्नि की पूजा करते हुए महा ब्रह्मा को प्रसन्न कर ब्रह्मलोकगामी होना।"

उसने कहा—"मुझे गृहस्थी से काम नहीं।" और आग ले जंगल में चला गया। वहाँ आश्रम बना अग्नि-पूजा करता हुआ रहने लगा।

उसे एक दिन किसी गाँव से दक्षिणा में एक बैल मिल गया। उस बैल को आश्रम पर ले जाकर उसने सोचा अग्नि-भगवान को गोमांस खिलाऊँगा। तभी उसे ख़याल आया--यहाँ नमक नहीं है। अग्नि भगवान बिना नमक के नहीं खा सकेंगे। गाँव से नमक लाकर अग्नि भगवान को नमक सहित खिलाऊँगा।

वह बैल को वैसे ही बाँध नमक लेने के लिये गाँव गया। उसके चले जाने पर कुछ शिकारी वहाँ पहुँचे। उन्होंने बैल को देख उसे मार डाला और उसका मांस खाकर उसकी पूँछ, जांघ तथा चर्म वहीं छोड़, शेष मांस लेकर चले गये।

ब्राह्मण ने लौट कर जब केवल पूँछ आदि को देखा तो सोचने लगा--यह अग्नि भगवान अपनी चीज़ की भी रक्षा नहीं कर सके। मेरी तो क्या रक्षा करेंगे? यह अग्नि-पूजा निरर्थक है। इससे कल्याण वा उन्नति नहीं--उसका मन अग्नि-पूजा की ओर से उदासीन हो गया। उसने पूँछ आदि को आग में फेंकते हुए कहा—"हे असत्पुरुष! अग्निदेव! यह भी बहुत समझो कि हम पूँछ से तेरी पूजा कर रहे हैं। तुझे मांस मिलना योग्य था, लेकिन मांस नहीं है। इसलिये आप जनाब पूँछ ग्रहण करें।"

उपनिषदों ने जब यज्ञों को फूटी नाव कहा था, उसी के आस-पास का यह चित्र है। अग्नि-भगवान का यह मज़ाक है, लेकिन है कितना निर्दय।

५ सामाजिक धारणायें

आज हमारे समाज में स्त्री-पुरुष के परस्पर के जो सम्बन्ध हैं और उनके बारे में हमारी जो धारणायें हैं, उन्हें हम वज्र-लेख की तरह अमिट मानते हैं। क्या वे सदा से ऐसी ही चली आयी हैं? कुछ कथाओं की गवाही इसके एकदम विपरीत है—

एक समय में एक आचार्य के शिष्य ने अपनी भार्या का दोष

देखा। वह व्याकुल चित्त रहने के कारण कई दिन तक आचार्य के पास नहीं गया। एक दिन आचार्य ने पूछा—"इतने दिन क्यों नहीं आये?"

उसने वह बात निवेदन की। आचार्य ने उपदेश दिया—

यथा नदी च पन्थो च पाणागारं सभा पपा,
एवं लोकित्थियो नाम नासं कुज्झन्ति पंडिता॥

[जैसे नदी, महामार्ग, शराबखाने, धर्मशालायें तथा प्याऊ, सबके लिये आम होते हैं, वैसे ही लोक में स्त्रियाँ सबके लिये साधारण होती हैं। पण्डित लोग उनके विषय में क्रोध नहीं करते।]

यह तस्वीर का एक पहलू है। दूसरा पहलू एक दूसरी कथा में इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

एक समय, कोशल देश (राष्ट्र) में तीन जने एक जंगल के पास खेती करते थे। उस समय कुछ चोर, लोगों को लूट कर भाग गये। सिपाही चोरों को न पकड़ सके तो उन्होंने उन तीन जनों को ही पकड़ कर राजा के सामने पेश कर दिया। उसी समय एक स्त्री 'मुझे चादर दो, मुझे चादर दो' कहती हुई रोती-पीटती सामने आयी। राजा ने कहा--'इसे चादर दो।' स्त्री बोली—"मुझे स्वामी रूपी चादर चाहिये।"

राजा ने पूछा—"यह तीनों तेरे क्या लगते हैं?"

"देव! एक मेरा स्वामी है, एक भाई है, एक पुत्र है।"

"मैं तुझ पर संतुष्ट हूँ। इन तीनों में से एक को देता हूँ। किसे चाहती है?"

"यदि तीनों को नहीं दे सकते, तो मुझे (मेरे) भाई को दें।"

"पुत्र या स्वामी को ले, तुझे भाई से क्या?"

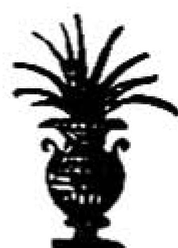
स्त्री बोली—

उच्छङ्गे देव! मे पुत्तो पथे धावन्तिया पति,
तञ्च देसं न पस्सामि यतो सोदरियमानये॥

(देव! पुत्र तो गोद में है और पति रास्ते चलती को मिल जाता

है; लेकिन वह देश नहीं दिखायी देता जहाँ से सहोदर भाई लाया जा सके।)

सचमुच एक ऐसा समय रहा होगा जब पुरुष के लिये स्त्री नदी, तालाब की तरह एक साधारण बात रही होगी और स्त्री को भी पुरुष रास्ते चलती को मिल जाता रहा होगा। उस समय कहाँ रहे होंगे हमारे अनेक वर्तमान रूढ़िगत मज्जागत झूठे-सच्चे संस्कार !



जनता का साहित्य—
जातक कथायें

[२]

समाज के मिथ्या-विश्वास यद्यपि पैदा होते हैं उसकी आर्थिक स्थिति से ही और द्योतक होते हैं समाज के विकास के ही, लेकिन वह अपने में एक ऐसी दीवार बन जाते हैं कि जिनको बिना हटाये समाज एक क़दम आगे नहीं बढ़ सकता। जिस समाज का चित्र हमारे जातक उपस्थित करते हैं वह सामन्तशाही का आरम्भ ही नहीं था, बल्कि यह कहा जा सकता है कि सामन्तशाही अपने ख़ासे जोबन पर थी। एक ओर सामन्तों की रंग-रलियाँ थीं, तो दूसरी ओर पुरोहित-शाही द्वारा प्रचारित मिथ्या-धारणाएँ थीं और जन-साधारण इन दो चक्की के पाटों के बीच पिस रहा था! नीचे हम कुछ ऐसे जातक दे रहे हैं जो उस युग की मिथ्या धारणाओं के तो रिकार्ड हैं ही, साथ ही उस महान् प्रयत्न के भी रिकार्ड हैं जो बौद्ध विचारधारा ने उन मिथ्या-धारणाओं को उखाड़ फेंकने का किया।

१ फलित ज्योतिष

उस समय वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय—कुछ नगर निवासियों को देहातियों ने अपनी लड़की देने का निश्चय किया। नगर-निवासियों ने अपने कुल-विश्वस्त पुरोहित से पूछा,—

"आज हमें एक मंगल-कृत्य करना है, क्या दिन अच्छा है?"

उसने सोचा, अपनी रुचि अनुसार दिन निश्चित कर लिया है, अब मुझे पूछते हैं! क्रुद्ध हो उसने कहा—"आज नक्षत्र अच्छा नहीं। यदि मङ्गल-कृत्य करोगे तो महाविनाश को प्राप्त होगे।"

वे उसकी बात पर विश्वास कर न गये। देहातियों ने उन्हें न

आता देख सोचा, वे आज दिन निश्चित करके भी नहीं आये, और लड़की किसी दूसरे को दे दी। नगरवासियों ने दूसरे दिन जाकर लड़की मांगी। देहातियों ने उत्तर दिया—"तुम नगर-निवासी निर्लज्ज गृहस्थ हो। दिन निश्चित करके भी लड़की लेने नहीं आये। हमने लड़की दूसरों को दे दी।"

हमने पुरोहित से पूछा। उसने कहा—"नक्षत्र अच्छा नहीं है। हम नहीं आये। अब हमें लड़की दो!"

"हमने तुम्हारे न आने के कारण लड़की दूसरों को दे दी। हम दी हुई लड़की को वापिस कैसे लें!"

दोनों पक्ष आपस में झगड़ रहे थे। एक बुद्धिमान आदमी उधर से गुजरा। उसने उन मूर्खों को झगड़ते देख कहा—

नक्खतं पतिमानेन्तं अत्थो बालं उपच्चगा।
अत्थो अत्थस्स नक्खत्तं किं करिस्सन्ति तारका॥

[नक्षत्र देखते रहने वाले मूर्ख आदमी का काम नष्ट हो गया है! जो कार्य करना है, उसका करना ही उसका नक्षत्र है। ये तारे क्या करेंगे!]

कुछ नहीं तो दो सहस्र वर्ष पुरानी तो यह कथा होगी। क्या इन दो सहस्र वर्षों में हमने कुछ भी आसमान की ओर न देख कर ज़मीन की ओर देखना सीखा है?

२ नाम से सिद्धि

पूर्व समय में तक्षशिला में बोधिसत्व* अत्यन्त विख्यात आचार्य हुए। ये पाँच सौ शिष्यों को वेद (मन्त्र) पढ़ाते थे। उनके एक शिष्य का नाम था 'पापक'। उसे लोग बुलाते "पापक आ, पापक आ।" उसने सोचा—"मेरा नाम अमाङ्गलिक है। मैं कोई दूसरा अच्छा नाम रखाऊँगा।"

वह आचार्य के पास जाकर बोला—"आचार्य मेरा नाम अमाङ्गलिक है। मुझे दूसरा नाम दें।"

*बुद्धत्व प्राप्त करने से पहले पूर्व जन्मों में बुद्ध की संज्ञा 'बोधिसत्व' रही है।

आचार्य ने कहा—"तात जा! देश में घूम कर जो तुझे अच्छा लगे, ऐसा एक माङ्गलिक नाम ढूंढ़ कर ला। आने पर तेरा नाम बदल दूंगा।"

उसने 'अच्छा' कहा और रास्ते के लिये खुराकी ले निकल पड़ा। एक गाँव से दूसरे गाँव घूमता हुआ एक नगर में पहुँचा।

वहाँ एक आदमी मर गया था। उसे उसके रिश्तेदार जलाने के लिये ले जा रहे थे। उसने देखकर पूछा—"इसका क्या नाम रहा?"

"इसका नाम 'जीवक' था।"

"क्या जीवक भी मरता है?"

"जीवक भी मरते हैं, अजीवक भी। नाम तो पुकारने भर के लिये होता है। मालूम होता है कि तू मूर्ख है!"

यह बात सुन, वह नाम के प्रति कुछ उदासीन हो नगर में गया। वहाँ एक दासी को उसके मालिक काम करके मज़दूरी न ला देने के कारण दरवाजे पर विठा कर रस्सी से पीट रहे थे। (उस समय दासियों को रख कर उनसे "मजदूरी" करवाते थे। इसके लिये पाली शब्द है—भृति) उस दासी का नाम था धनपाली। पापक ने गली में से गुज़रते हुए उसे पिटते देखकर पूछा--

"इसे क्यों पीट रहे हैं?"

"यह मज़दूरी नहीं लाकर दे सक रही है?"

"इसका नाम क्या है?"

"इसका नाम है धनपाली?"

"नाम से है धनपाली, तो भी मजदूरी (मात्र) भी (कमा कर) नहीं (ला) दे सकती है?"

"धनपाली भी दरिद्र होती है, अधनपाली भी। नाम बुलाने भर को होता है। मालूम होता है तू मूर्ख है!"

वह नाम के प्रति कुछ और उदासीन हो नगर से निकला। रास्ते में उसने एक आदमी को देखा जो रास्ता भटक गया था। उसने पूछा—

"तुम क्या करते घूमते हो ?"

"स्वामी। मैं रास्ता भूल गया हूँ।"

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"पन्थक।"

"पन्थक भी रास्ता भूलते हैं ?"

"पन्थक भी भूलते हैं, अपन्थक भी भूलते हैं। नाम पुकारने भर के लिये है। मालूम होता है, तू मूर्ख है!"

वह नाम के प्रति बिलकुल उदासीन हो बोधिसत्व के पास गया। बोधिसत्व ने पूछा—"क्यों तात! अपनी रुचि का नाम ढूंढ़ लाये ?"

"आचार्य! जीवक भी मरते हैं, अजीवक भी। धनपाली भी दरिद्र होती है, अधनपाली भी। पन्थक भी रास्ता भूलते हैं, अपन्थक भी। नाम बुलाने भर को होता है। नाम से सिद्धि नहीं है। कर्म से ही सिद्धि है। मुझे दूसरा नाम नहीं चाहिये। जो है सो ही रहे।"

तब बोधिसत्व ने कहा—

जीवकञ्च मतं दिस्वा धनपालिञ्च दुग्गंत।
पन्थकञ्च वने मूळ्हं पापको पुनरागतो॥

[जीवक को मरा देख, धनपाली को दरिद्र देख, पन्थक को जंगल में भटकता देख, 'पापक' फिर लौट आया।]

इस कथा का एक भोजपुरी रूप कुछ वर्ष हुए सुनने को मिला था, जिसके अन्त में है—"सब से निमन (अच्छा) ठठपाल"। नाम परिवर्तन से सिद्धि का ही उदाहरण है अस्पृश्यों को 'हरिजन' बनाना। लेकिन क्या उनकी कुछ भी दशा सुधरी ? और उस युग में तो नामों के प्रति ही मोह था, अब तो नामों के साथ 'उपनामों' के प्रति भी है। हमारा कौन सा कवि है जिसने अपना एक 'उपनाम' भी नहीं रखा है ? कोई पूछे क्यों ?

३ सूर्य-नमस्कार

उस समय बोधिसत्व ने चूहे का जन्म ग्रहण किया था। बड़े होने पर वह सुअर के बच्चे की तरह बढ़कर अनेक सौ चूहों के साथ जंगल

में रहने लगा।

इधर-उधर घूमते हुये एक शृगाल ने उस चूहों के समूह को देखा और सोचा इन चूहों को ठगकर खाऊँगा। यह सोच वह चूहों के बिल से थोड़ी ही दूर सूर्य्याभिमुख हो मुँह खोल, हवा पीते हुये की तरह एक ही पाँव से खड़ा हुआ।

इधर-उधर घूमते हुये बोधिसत्व ने उसे देखा तो सोचा, यह सदाचारी होगा। पास जाकर पूछा—

"आपका क्या नाम है?"

"मेरा नाम है धार्मिक।"

"चारो पैर पृथ्वी पर न रख एक ही पैर से क्यों खड़े हैं?"

"चारों पैर पृथ्वी पर रखने से पृथ्वी पर भार पड़ेगा, इसलिये एक ही पैर से खड़ा हूँ।"

"मुँह खोले क्यों खड़े हैं?"

"हम हवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाते।"

"सूर्य की ओर मुँह करके क्यों खड़े हैं?"

"सूर्य को नमस्कार कर रहा हूँ।"

बोधिसत्व ने सोचा, यह सदाचारी है। उसके बाद से चूहों के समूह के साथ प्रातः सायं उसकी सेवा में जाने लगा।

जब चूहे लौटते तो शृगाल सबसे पिछले चूहे को पकड़ कर खा जाता और फिर मुँह पोंछकर चुपचाप खड़ा हो जाता। क्रम से चूहों की संख्या घटने लगी। चूहे सोचने लगे—पहले हमें यह बिल पर्याप्त नहीं होता था, सट-सट कर खड़े होते थे। अब खुल-खुल कर खड़े होते हैं। तब भी बिल नहीं भरता। क्या मामला है?

बोधिसत्व कारण जानने के लिये एक दिन सब चूहों को आगे कर स्वयं पीछे आये, शृगाल उछला। अपने को पकड़ने के लिये शृगाल को उछलता देख बोधिसत्व ने कहा—

"भो श्रृगाल ! तेरा यह व्रत धार्मिक नहीं है। तू दूसरों की हिंसा करने के लिये ही धर्म को आगे करके रहता है। सुन—

यो वे धम्मं धजं कत्वा निगूळ्हो पापमाचरे,
विस्सासयित्वा भूतानि विळारं नाम तं वतं।

(जो धर्म की ध्वजा बनाकर प्राणियों . विश्वास उत्पादनकर छिप कर पाप करता है, उसका व्रत बिल्ला-व्रत है।)

अहिंसा की आड़ में हिंसा करने वाले धर्मध्वजियों के खिलाफ विद्रोह की भावना ने ही इस कथा का रूप धारण किया है। क्या उनकी आज कुछ भी कमी है ?

४ शिखा का प्रयोजन

ऊपर की कथा से मिलती जुलती ही यह कथा है। एक श्रृगाल जंगल में आग लगने पर जब भागने में असमर्थ रहा, तो एक वृक्ष से सिर सटाकर खड़ा हो गया। उसके सारे शरीर के बाल जल गये। वृक्ष से लगे हुए सिर पर शिखा की तरह से कुछ बाल बच गये। उसने एक दिन एक पर्वतीय तालाब में पानी पीते हुए अपनी छाया के साथ शिखा को देखा। उसने सोचा—अब मुझे पूंजी मिल गयी।

चारे के लिये घूमते हुए बोधिसत्व ने उसे देखकर पूछा—

"तुम्हारा क्या नाम है ?"

"मेरा नाम है अग्नि-भारद्वाज।"

"तू किस लिये आया है ?"

"तुम्हारी रक्षा करने के लिये।"

"तू हमारी रक्षा कैसे करेगा ?"

"मैं उँगलियों पर गिनना जानता हूँ। तुम्हें प्रातःकाल जाते समय गिन लूँगा और फिर लौटते समय गिन लूँगा। इस प्रकार तुम्हारी रक्षा करूँगा।"